अर्हम्

श्री सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल का तृतीय पुष्प

स्वाध्याय-माला

(प्रथम भाग)

सम्पादक

रत्न कुमार जैन 'रत्नेश'

साहित्यरत्न, धर्मशास्त्री

प्रकाशक

श्री सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जोधपुर ।

वीर सम्वत् २४७३ | प्रथम बार १००० | मूल्य ।॥=)

प्रकाशक—
मंत्री,
श्री सम्यग् ज्ञान प्रचारक मंडल,
जोधपुर

१९४७

मुद्रक—
श्री राधा कृष्ण प्रेस,
जोधपुर

निवेदन

श्री सम्यग् ज्ञान प्रचारक मंडल का बीजारोपण आचार्य श्री रत्नचंद्र शताब्दी महोत्सव पर भोपालगढ़ में हुआ था, लेकिन विधिवत् स्थापना पूज्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के जोधपुर चातुर्मास में हुई। चातुर्मास में ही विशिष्ट व्यक्तियों के परामर्श से मंडल का विधान बनाया गया और कार्य प्रारंभ कर दिया गया। जैसा कि सबको ज्ञात ही है।

फिलहाल मंडल का आफिस जोधपुर में है। मंडल को स्थापित हुए अभी केवल एक वर्ष हुआ है। इस अल्प अवधि में ही मंडल ने जो प्रगति की है, वह पाठकों के समक्ष ही है।

मंडल के विविध उद्देश्यों में स्थान २ पर यथासंभव स्वाध्याय संघ कायम करना और प्राचीन जैन साहित्य की खोज कर उनका संग्रह करना भी प्रमुख उद्देश्य है। मंडल ने अपने उद्देश्यानुसार जोधपुर में स्वाध्याय संघ और धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था की है। इस तरह की प्रवृत्ति उसकी बराबर चालू है। स्वाध्याय संघ की स्थापना के साथ २ मंडल को स्वाध्याय प्रेमियों के लिये एक प्रारंभिक ग्रंथ निर्माण करना भी आवश्यक प्रतीत हुआ। जिसकी पूर्ति करने के लिये यह स्वाध्याय माला का प्रथम पुष्प पाठकों के समक्ष रक्खा जा रहा है। इसमें संगृहीत श्री वीर जिनस्तव और गौतम-कुलक दोनों ही प्रकरण अप्रकाशित हैं। ये मात्र हस्तलिखित टब्बा के साथ ही उपलब्ध होते हैं। अब इनके प्रकाशन से मंडल के उपरोक्त दोनों उद्देश्यों की आंशिक पूर्ति हो जाती है।

उपरोक्त दोनों प्रकरण हमें श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री हस्ती-मलजी म० सा० की कृपा से प्राप्त हुए हैं। अत मंडल पूज्य श्री का हृदय से आभार मानता है।

मंडल की प्रवृत्ति साम्प्रदायिकता से दूर है। उसका कार्य-क्षेत्र विस्तृत पैमाने पर है। उसके उद्देश्य चतुर्मुखी हैं। जिन महान् उद्देश्यों को लेकर मंडल ने अपनी प्रवृत्ति चालू की, आशा है समाज उसको उपयोगी समझ कर अपनायेगा। मंडल को समाज का सहयोग बराबर मिलता रहा तो वह अपनी अधिकाधिक सेवा करने में तत्पर हो सकेगा। सुज्ञेषु किं बहुना।

— भवदीय —

इन्द्रनाथ मोदी
B. A. LL. B
प्रेसीडेन्ट

ऋषभराज कर्णावट
B. A. LL. B
सेक्रेटरी

आमुख



विश्व के तमाम धर्मों ने स्वाध्याय को जीवन में प्रमुख स्थान दिया है। जैन ग्रन्थों में तो उसका विशद वर्णन स्थान स्थान पर मिलता ही है, लेकिन गीता, पुराण, स्मृति और उपनिषदों में भी स्वाध्याय का विवेचन अधिक मात्रा में किया गया है। स्वाध्याय जीवन का प्रमुख अङ्ग है। जीवन को उन्नत बनाने में स्वाध्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। आइये अब हम यह देखें कि स्वाध्याय क्या है?

स्वाध्याय क्या है?—स्वाध्याय शब्द के सामान्यतः दो अर्थ किये जाते हैं–१ स्वयं अध्ययनम्–अर्थात् अपने आप दूसरों की सहायता लिये बिना ही अध्ययन करना। स्वयं ही विचार, चिन्तन और मनन द्वारा उपस्थित समस्याओं को समझना और उन्हें सुलझाना।

२ स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्—अर्थात् अपने आपका अध्ययन करना। आत्मचिन्तन द्वारा हृदय के अशुभ विचारों को दूर करना और शुभ विचारों को बढ़ाना। जैन धर्म में इसे भाव अध्ययन के नाम से कहा गया है। भाव अध्ययन का अर्थ अनुयोग द्वार सूत्र में 'अज्झप्पसावयण' किया गया है। अर्थात् मैं कौन हूँ? मेरे क्या गुण हैं? मुझे क्या करना चाहिये? क्या

नहीं ? यह जानना और उसके साथ २ अपने आपको उस व्यापार में प्रवृत्त करना भाव अध्ययन है।

उपरोक्त दोनों तरह के स्वाध्याय मिलकर ही पूर्ण स्वाध्याय को बनाते हैं। एक के न होने से स्वाध्याय भी लगड़ा हो जाता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में साधु की रात्रि—चर्या बताते हुए कहा गया है—

पढ़म पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जोवि सज्झायं॥

अर्थात्-पहली पोरसी में स्वाध्याय, दूसरी में ध्यान, तीसरी में निद्रा-त्याग और चौथी पोरसी में फिर स्वाध्याय करना चाहिये।

यहां दो बार स्वाध्याय शब्द का होना उपरोक्त दोनों ही तरह के स्वाध्याय को सूचित करता है। दोनों ही जीवन में परमावश्यक है। तो अब हम यह कहें कि सद्ग्रन्थों का वाचन कर अपनी आध्यात्मिक शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार मनन और चिंतन कर प्रशस्त मार्ग का पता लगाना और उसीका अवलम्बन लेना स्वाध्याय है।

केवल किसी धर्म ग्रन्थ के थोड़ी देर तक पन्ने उलटने से ही स्वाध्याय नहीं हो जाता। ऐसे स्वाध्याय से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। ज्ञान प्राप्ति के लिये तो ध्यान पूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय का अर्थ है अपनी विचार शक्ति का प्रयत्न कर अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा से आभ्यन्तर और

बाह्य समस्याओं को सुलझाना-हल करना। दूसरों के सहारे से मनुष्य सत्य तक आसानी से नहीं पहुँच सकता। क्योंकि विचार भिन्नता होने से एक शास्त्र दूसरे शास्त्र का खण्डन (प्रतिवाद) करता है, एक की बात दूसरे से मेल नहीं खाती। ऐसी हालत में यदि मनुष्य में विवेकपूर्ण विचार शक्ति नहीं हुई-सत्यासत्य का निर्णय करने योग्य बुद्धि न हुई और केवल अन्ध श्रद्धा के बल पर ही अपने पथ पर चलता गया तो आगे जाकर वह अन्धकार में गिरे बिना नहीं रह सकता। जिससे निकलना फिर दुरुह हो जाता है। अतः यह नहीं भूल जाना चाहिए कि स्वाध्याय में अपनी विचार शक्ति को सबल बनाने की सब से पहली जरूरत है। जैसे २ अपनी विचार शक्ति बढ़ती जायगी, हमारी आत्म भावना मजबूत होती जायगी और हमें स्वाध्याय का भी मधुर आनन्द आता जायगा। किन्तु यह ध्यान रहे कि अपनी विचार-शक्ति कुतर्क रूप न हो। क्योंकि शास्त्रकार के दृष्टिकोण को अनुसरण करने वाली विचारणा ही सत्य को प्राप्त करती है, न कि कुतर्क।

विचार शक्ति कैसे बढ़ावें—अब प्रश्न यह आता है कि विचार शक्ति कैसे बढ़ाई जाय। विचार शक्ति को बढ़ाने के लिये चिन्तन और मनन की जरूरत होती है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए यों कहें-मान लीजिये आपने मेरे सूई चुभ दी। सुई चुभाने से मुझे तकलीफ हुई। इससे आपने विचार किया कि सूई चुभाने से जब दूसरे को तकलीफ होती है तो अगर मैं मेरे ही चुभाऊँ, तब मुझे भी तकलीफ होगी ही। इससे आगे जब आपने अपना चिन्तन बढ़ाया और यह जानना चाहा कि ऐसा

क्यों होता है ? तो फिर आपको मनन द्वारा यह मालूम होगा कि आत्मा सबकी समान है। सब दुःख से घबराते हैं। सुख चाहते हैं। इतना विचार करने पर फिर आपको प्रश्न होगा कि आत्मा दुःख से घबराता क्यों ? और सुख को चाहता क्यों ? आप अपनी मनन शक्ति बढ़ाते जाइये। आपको मालूम होगा आत्मा का स्वभाव दुःख से छुटकारा पाना और सुखको प्राप्त करना है। इसलिये स्वाभाविक ही आत्मा की प्रवृत्ति सुख की ओर होती है। जान बूझ कर कोई आग में गिरना नहीं चाहता। यहां तक जब आप पहुंच गए, तब फिर आप यह सोचेंगे कि यह सुख कौनसा है? क्या यही भौतिक सुख, जिसे आत्मा पाना चाहता है या और कोई दूसरा ? इस तरह क्रमशः आप अपनी चिन्तन शक्ति बढ़ाते जायेंगे तो विचार शक्ति स्वतः उसके पीछे २ चलती जायगी। चिन्तन के पीछे विचार तो लगा ही हुआ है। स्वाध्यायी को तो चिन्तन और मनन को अपने हाथों में रखना चाहिए। विचार तो उनका कठपुतली है। वह तो स्वतः उनके पीछे २ चलती ही आयगी। यह तो हुई अपनी बात। लेकिन अब हमें यह देखें कि शास्त्र क्या कहते हैं ?

स्वाध्याय की आवश्यकता—शास्त्रों ने स्वाध्याय को जीवनोन्नति का प्रधान साधन माना है। जिस प्रकार बिना कुछ खाये पिये शरीर की भूख नहीं मिटाई जा सकती। उसी प्रकार बुद्धि की भूख भी स्वाध्याय के बिना मिटाई नहीं जा सकती। आहार के अभाव में देह की जो दुर्गति होती है वही दुर्गति स्वाध्याय के अभाव में बुद्धि की होती है। इसलिए हमारे दैनिक जीवन में सत्साहित्य का अध्ययन उतना ही आवश्यक है

जितना कि शरीर को कायम रखने के लिये भोजन। जैनधर्म में स्वाध्याय को भी एक प्रकार की तपस्या कहा गया है। उपवास आदि व्रत जहां बाह्य तप में गिने गये हैं वहां स्वाध्याय को अन्तरंग तप माना गया है। गीता ने भी इसे तप रूप में स्वीकार किया है। देखिये—

'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।'

गीता १७—१५

अर्थात्—स्वाध्याय करना वाणी का तप है।

स्वाध्याय का महत्व बताते हुए जैन शास्त्र कहता है—

सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई

अर्थात्—स्वाध्याय से ज्ञान का अवरोधक ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्त में जीवन के चरम लक्ष्य शुद्ध बुद्ध परमात्मा का साक्षात्कार होता है। देखिये व्यास भाष्य में भी लिखा है—

स्वाध्याय योगमासीत योगात्स्वाध्याय मामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते॥

योग—१।२८ व्यासभाष्य

अर्थात्—स्वाध्याय से योग की उपासना करे और योग से स्वाध्याय का अभ्यास करे। स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

सत्पुरुषों के वियोग में उनकी वाणी ही उनसे साक्षात्कार कराने में समर्थ हो सकती है। स्वाध्याय में ही यह ताकत रही हुई है कि यह परोक्ष में रहे हुए महापुरुषों का भी साक्षात्कार करावे। अगर यह ताकत स्वाध्याय में नहीं होती तो आज दुनिया में ऐसे पुरुष नहीं दिखाई देते, जो महावीर, कृष्ण और बुद्ध के जीवन पर मुग्ध हो अपना सर्वस्व समर्पण कर दें। हमने स्वयं तो बुद्ध या महावीर को प्रत्यक्ष देखे नहीं हैं। फिर भी उनकी वाणी पर और उनके आदर्श जीवन पर चलने वाले आज लाखों पुरुष हैं। यह स्वाध्याय का ही परिणाम है जो हजारों साल बीत जाने पर भी उन्हें भूलने नहीं देता।

जीवन में स्वाध्याय का स्थान—गृहस्थ के प्रतिदिन करने योग्य छह बातों में स्वाध्याय का तीसरा स्थान है। कहा भी है—

देवार्चा गुरु शुश्रूषा स्वाध्याय संयमस्तप।
दान चेति गृहस्थाना, षट् कर्माणि दिने दिने॥

अर्थात्—देव-स्मरण, २ गुरु सेवा, ३ स्वाध्याय, ४ संयम, ५ तप और ६ दान। ये गृहस्थ के प्रतिदिन करने योग्य कर्तव्य हैं। अतः स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि स्वाध्याय ही समाज में जागृति की लहर उत्पन्न करता है, और स्वाध्याय ही धर्म स्थानोंका जीवन चिन्ह है। स्वाध्याय ही उदासीन समाज में कर्तव्य बुद्धि का नव चैतन्य संचारित करने वाला है, भक्ति के वेग को बढ़ाने वाला है और तीर्थंकर जैसे उच्च पद की प्राप्ति कराने वाला है। स्वाध्याय ही गुरुजनों के उपदेश

और ज्ञानियों के ज्ञान को स्मृति में रखने का प्रधान साधन है। इसीलिये श्रुति में कहा है—

स्वाध्यायान्मा प्रमद

अर्थात्—स्वाध्याय करने में भूल मत करो। श्रुतियां तो यहां तक कहती है कि—

तदहरब्राह्मणोभवति यदहः स्वाध्याय नाधीते।
तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य।

अर्थात्—जिस दिन स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन ब्राह्मण अब्राह्मण हो जाता है। अतः स्वाध्याय नित्य प्रति करना चाहिए। नीति में भी कहा है—

अनन्त संशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः।

अर्थात्—अनन्त सन्देहों का नाश करने वाला और परोक्ष में रहे हुए पदार्थों को दिखाने वाला शास्त्र ही सबका लोचन नेत्र है। इसके अभाव में वह अन्धा है। उपरोक्त शास्त्र वचन हमें आदेश करते हैं कि स्वाध्याय नित्य करना चाहिए। इसमें प्रमाद करना अपने जीवन को नीचे गिराना है।

स्वाध्याय और जैनसमाज—उपरोक्त स्वाध्याय की आवश्यकता और महत्व को समझ कर जब हम हमारे समाज की ओर एक नजर उठा कर देखते हैं तो स्वाध्याय का एक दम

सत्पुरुषों के वियोग में उनकी वाणी ही उनसे साक्षात्कार कराने में समर्थ हो सकती है। स्वाध्याय में ही यह ताकत रही हुई है कि यह परोक्ष में रहे हुए महापुरुषों का भी साक्षात्कार कराये। अगर यह ताकत स्वाध्याय में नहीं होती तो आज दुनिया में ऐसे पुरुष नहीं दिखाई देते, जो महावीर, कृष्ण और बुद्ध के जीवन पर मुग्ध हो अपना सर्वस्व समर्पण कर दें। हमने स्वयं तो बुद्ध या महावीर को प्रत्यक्ष देखे नहीं हैं। फिर भी उनकी वाणी पर और उनके आदर्श जीवन पर चलने वाले आज लाखों पुरुष हैं। यह स्वाध्याय का ही परिणाम है जो हजारों साल बीत जाने पर भी उन्हें भूलने नहीं देता।

जीवन में स्वाध्याय का स्थान—गृहस्थ के प्रतिदिन करने योग्य छह बातों में स्वाध्याय का तीसरा स्थान है। कहा भी है—

देवार्चा गुरु शुश्रूषा स्वाध्याय संयमस्तप ।
दान चेति गृहस्थाना षट् कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात्—देव-स्मरण, २ गुरु सेवा, ३ स्वाध्याय, ४ संयम, ५ तप और ६ दान। ये गृहस्थ के प्रतिदिन करने योग्य कर्तव्य हैं। अतः स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि स्वाध्याय ही समाज में जागृति की लहर उत्पन्न करता है, और स्वाध्याय ही धर्म स्थानोंका जीवन चिन्ह है। स्वाध्याय ही उदासीन समाज में कर्तव्य बुद्धि का नव चैतन्य सचारित करने वाला है, भक्ति के वेग को बढ़ाने वाला है और तीर्थंकर जैसे उच्च पद की प्राप्ति कराने वाला है। स्वाध्याय ही गुरुजनों के उपदेश

और ज्ञानियों के ज्ञान को स्मृति में रखने का प्रधान साधन है। इसीलिये श्रुति में कहा है—

स्वाध्यायान्मा प्रमद

अर्थात्—स्वाध्याय करने में भूल मत करो। श्रुतियां तो यहां तक कहती हैं कि—

तदहरब्राह्मणोभवति यदह स्वाध्याय नाधीते।
तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य।

अर्थात्—जिस दिन स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन ब्राह्मण अब्राह्मण हो जाता है। अत स्वाध्याय नित्य प्रति करना चाहिए। नीति में भी कहा है—

अनेक संशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचन शास्त्र, यस्य नास्त्यन्ध एव स।

अर्थात्—अनेक सन्देहों का नाश करने वाला और परोक्ष में रहे हुए पदार्थों को दिखाने वाला शास्त्र ही सबका लोचन नेत्र है। इसके अभाव में वह अन्धा है। उपरोक्त शास्त्र वचन हमें आदेश करते हैं कि स्वाध्याय नित्य करना चाहिए। इसमें प्रमाद करना अपने जीवन को नीचे गिराना है।

स्वाध्याय और जैनसमाज—उपरोक्त स्वाध्याय की आवश्यकता और महत्व को समझ कर जब हम हमारे समाज की ओर एक नजर उठा कर देखते हैं तो स्वाध्याय का एक दम

अभाव ही मालूम होता है। सत्शास्त्र के पठन, पाठन और चिन्तन की रुचि आज अतिशय मन्द हो गई है। इसीलिए रात दिन व्याख्यान सुनने वाले भाई बहिनोंमें भी ऐसे बहुत कम मिलेंगे जो सामान्य (धार्मिक) प्रश्नों का भी उत्तर दे सकें। कारण यही है कि वे सुन तो जरूर लेते हैं परन्तु फिर चिन्तन और मनन नहीं करते। वे सन्त मुनिराजों के व्याख्यानों में जाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, पर उन पर चिन्तन करना नहीं। यही वजह है कि वे सुनते हुए भी अनसुने और जानते हुए भी अन जान से बने रहते हैं। यह याद रखना चाहिए कि स्वाध्याय के बल पर ही कोई धार्मिक सम्प्रदाय टिक सकती है। हजारों वर्षों पहले के तीर्थंकरों व महापुरुषों का जो सच्चा परिचय और तत्वज्ञान हमको उपलब्ध है, वह भी गुरु शिष्य परम्परा से चालू स्वाध्याय का ही फल है। स्थूलभद्र, स्कन्दिलाचार्य और देवर्धिगणी आदि आचार्यों ने इसी स्वाध्याय से शास्त्र ज्ञान को सुरक्षित रखा था। अगर वे ऐसा नहीं करते तो हम आज पूरे अन्धकार में होते। अतः यह परमावश्यक हो जाता है कि नित प्रति कुछ न कुछ स्वाध्याय जरूर किया जाय।

जैसे यज्ञ करने से कलुषित हवा दूर होकर वायु शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार स्वाध्याय भी एक यज्ञ है जिससे आत्मा में रहे हुए, काम क्रोधादि विकार दूर हो जाते हैं और आत्मा अपने सत् स्वरूप को पहचान लेती है। जैसाकि गीता में कहा है—

स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च, यतयः संशित व्रताः।

अध्याय ४ श्लोक २८।

पुस्तकों,की सहायता से या व्यक्तियों की सहायता से कुछ जानना अध्ययन कहलाता है। लेकिन स्वाध्याय वह है, जिससे किसी समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके निष्पक्ष निर्णय करें और अपने विश्वासको मजबूत बनावें।

ऐसा स्वाध्याय ही बुद्धि का भोजन है। आत्मोन्नति का प्रशस्त मार्ग है और है सच्चिदानन्द का पथदर्शक। अवश्य ही प्रतिदिन मनुष्य को ऐसा सच्चा स्वाध्याय करना चाहिये।

इसी उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक आपके सामने रखी जा रही है। यह स्वाध्याय महल की प्रथम सोपान स्वरूप है। इसमें वर्णित श्री वीर जिनस्तव और गौतमकुलक दोनों ही प्राचीन प्रकरण हैं और दोनों ही अपनी २ निजी विशेषतायें रखते हैं। आइये अब हम तनिक इन पर भी अपनी दृष्टि डालें।—

वीर जिनस्तव —इस ग्रन्थ का नाम वीर जिनस्तव है।

जिसका स्वयं ग्रन्थकार ने प्रकरण के अन्त में 'वीर जिण थुअमेअं' पद से निर्देश किया है। इसकी मूल भाषा प्राकृत है और गाथायें कुल २२ हैं। जिनमें भगवान् महावीर के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी स्तुति की गई है। इसके रचयिता आचार्य अभयदेवसूरि हैं। जो अपने समय में बड़े विद्वान थे। उनका समय ग्यारवीं शताब्दी का अन्त और बारहवीं का प्रारम्भ काल है। ये चान्द्रकुल के जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। स० १०८८ में वर्धमान सूरि की अनुमति से इनको आचार्यपद दिया गया था। उस समय आगमों की टीकायें प्रायः नष्ट हो गई थी। केवल आचारांग और सूयगडांग सूत्र पर ही उस समय

टीकायें उपलब्ध थी। प्रतिभा सम्पन्न होने से आपको इस कार्यकेलिये कहा गया। आपने इसे स्वीकार किया और तपस्याके साथ टीका निर्माण करने लग गये। कहा जाता है कि इसमें आपको देवी सहाय प्राप्त हुआ था। स० ११२६ के आस पास आपने नव अगों पर टीकायें बनाई। जो संस्कृत भाषा में आज सर्वत्र प्राप्त होती है। इनके सिवाय पंचाशक आदि ग्रन्थों पर भी टीकायें की। संस्कृत की भाँति प्राकृत में भी आपने कई मौलिक कृतियाँ बनाई। भगवती सूत्र के निग्रंथ प्रकरण पर जो आपने ग्रन्थ बनाया, वह प्राकृत भाषा बद्ध है। उसी तरह का यह दूसरा वीर जिनस्तव भी है। इसकी भाषा सरल प्राकृत होते हुए भी ठोस है, भाव सूत्रानुगामी है। आचार्य अभयदेवसूरि का कपट वणिज नगर में स० ११३५ में स्वर्गवास हुआ था।

गौतमकुलक —यह गौतम स्वामीके नामसे प्रचलित है। जैसा कि नाम से ही प्रकट होता है। फिर भी कुछ एक इसे 'लुद्धानरा' भी कहते हैं। इसकी रचना कब और किसने की यह ज्ञात नहीं होता। लेकिन इतना तो सुनिश्चित है कि यह प्रकरण अर्वाचीन नहीं किन्तु प्राचीन है। इसमें प्रश्नोत्तर के रूप में विविध विषयों को हृदयग्राही ढंग से समझाया गया है। जैसा कि पाठकों को पढ़ने से स्पष्ट मालूम होगा। फिर भी आश्चर्य है कि ऐसा उपयोगी प्रकरण इतने समय तक अप्रका शित ही कैसे रहा ?

उपरोक्त दोनों प्रकरणों की गाथायें शब्दार्थ, भावार्थ और विवेचन श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री हस्तीमलजी म सा की

कापी से उद्धृत किये गये हैं। छायानुवाद की पूर्ति मात्र इन पंक्तियों के लेखक द्वारा हुई है। आशा है सहृदय पाठक इसे पसन्द करेंगे।

सन्त महात्माओं की भाषा सदैव परिमित व शास्त्रानुकूल ही होती है। लेकिन सम्पादन करते समय उनकी भाषा और भावों में कुछ परिवर्तन हो ही जाता है। यद्यपि इस पुस्तक को लिखने में काफी सावधानी से काम लिया गया है, परन्तु फिर भी त्रुटि रह जाना असम्भव बात नहीं है। अतः सम्पादक का उत्तरदायित्व समझकर दयालु पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

विनीत—
रत्नकुमार जैन 'रत्नेश'
सम्पादक

मोतीचौक
जोधपुर



स्वाध्याय प्रेमियों से

(१) स्वाध्याय प्रारम्भ करने से पहले ज्ञानदाता गुरु को भक्ति पूर्वक प्रणाम करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान प्राप्ति में ज्ञानियों का सग प्रधान कारण है। अतः ऐसे परम ज्ञानियों का अन्तःकरण से सम्मान करना चाहिये।

(२) शास्त्रकारों के मूल आशय को समझने के लिये उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा और शुद्ध दृष्टि होनी चाहिये।

(३) शास्त्रकार की दृष्टि समझकर उसी दृष्टि से उसका अर्थ करना चाहिये, अन्यथा सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(४) पाठक को यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसका स्थान उच्च है। उसका आचरण और त्याग ऐसा होना चाहिये कि जिस से श्रोताओं के मन में सहज ही आदर भाव उत्पन्न हो जाय।

(५) अतीन्द्रिय होने से जो विषय बुद्धि गम्य नहीं हो अथवा युक्ति से बाधित दिखता हो, वहां उन शास्त्रकारों की मूल दृष्टि समझने का प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु बुद्धिग्राह्य न होने से उपहास कर बैठना अनुचित है।

(६) निम्न पाठ से गुरु वन्दन कर स्वाध्याय प्रारम्भ करिये—

अज्ञानतिमिरान्धाना, ज्ञानाञ्जन शलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।

दोहा—परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुख धाम।
जेणे आप्यु भान निज, तेने करू प्रणाम॥

दैनिक स्तुति पाठ

अर्हते वीतरागाय, सिद्धाय परमात्मने।
नमः श्रमणसङ्घाय, जिनाज्ञापालकाय च ॥१॥

अर्हन् सिद्धेति सिद्धेति, प्रातरुत्थाय यो जपेत्।
इन्द्रियाणि सुसंयम्य, स याति परमां श्रियम् ॥२॥

स्मरणं जिन देवस्य, विघ्न-वल्ली विनाशनम्।
स्मरणं देवदेवस्य, सर्व-मङ्गल-कारणम् ॥३॥

चिन्तनं वीतरागस्य सर्व-व्याधि निवारणम्।
कषायाऽनल सन्तप्त, जन्तूनां ताप हारणम् ॥४॥

जिने भक्ति र्जिने भक्ति, र्जिने भक्तिर्भवे भवे।
सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु भवे भवे ॥५॥

कोटि-जन्म-कृतं पापं, जिनेन्द्र! स्मरणाद्भुवि।
नश्यति क्षण मात्रेण, नराणाऽत्र न संशयः ॥६॥

इदमेव परं मन्त्रम्, इदमेव परम धनम्।
वीतरागस्य यद् ध्यानं, इदमेवो सुनिश्चितम् ॥७॥

अन्य देवेषु मे भक्तिर्न स्यात् स्वप्नेऽपि कर्हिचित्।
यदि प्राण वियोगोऽपि, तव भक्तो भवेत् मम ॥८॥

प्रातः स्मरामि भव-ताप-हरं जिनेशम्।
प्रातर्नमामि अघ-मोचकरं मुनीशम्।
प्रातर्भजामि शुभ-तीर्थकरं जनेशं।
प्रातः पठामि अघ-शान्ति करं गिरीशम् ॥९॥

सर्वे देवान् परित्यज्य, जिनेश भज भो मन ॥
आताऽयमेव त्वां दुःखे कषाय विषयोद्‌भवे ॥१०॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव बुद्धिस्त्वमेव सिद्धि ।
त्वमेव शान्ति शरण त्वमेव ॥११॥



॥ श्री ॥

श्रीमद् अभयदेवसूरि विरचित—

卐 श्री वीर जिनस्तव 卐

मूल-जइज्जा,समणे भयवं, महावीरे जिणुत्तमे ।
लोगनाहे सयबुद्धे, लोगंतिय विबोहिए ॥१॥

छायानुवाद-तर्ज-राधेश्याम-

महावीर जिन उत्तम हैं, वे स्वयं,बुद्ध जग के स्वामी ।
देवों से प्रतिबोधित जय हो, श्रमण,ईश अन्तर्यामी ॥१॥

भावानुवाद—त्रिलोकीनाथ, स्वयं बोध पाये हुए तथा दीक्षा के समय लोकान्तिक देवों से प्रेरणा पाये हुए श्री श्रमण भगवान महावीर जयवन्त हो। आप वीतरागियों में भी श्रेष्ठ जिनवर हैं।

मूल—वच्छरं दिन्न-दाणोह संपूरिय जणासए ।
णाणत्तिय समाउत्ते, पुत्ते सिद्धत्थरायणो ॥ २ ॥

छायानुवाद

देकर वार्षिक दान प्रभु, जग आशा पूरण करते हैं।
तीन ज्ञान के धारक जिन, सिद्धार्थ तनय कहलाते हैं।

भावानुवाद—चप भर दान देकर लोगोंकी आशा पूर्ण करने वाले भगवान महावीर, जन्म से ही तीन ज्ञान (मति, श्रुति और अवधि) के धारक और सिद्धार्थ राजा के पुत्र हैं।

मूल—विद्या रज्ज च रट्ठं च, पुर अंतेउरं तहा।
निक्खमित्तो अगाराओ, पव्वइए अणगारिअ ॥३॥

छायानुवाद

राज्य राष्ट्र अतःपुर तज कर, घर से नाता तोड़ दिया।
पुर से निकल आपने जल्दी, मुनिपन को स्वीकार किया ॥३॥

भावानुवाद—प्रभु महावीर ने राज्य देश, नगर और अन्तःपुर को छोड़कर, गृहस्थ जीवन से विमुख हो मुनिपन धारण किया।

मूल—परीसहाण नो भीए भेरवाण खमाखमे।
पचहा समिइयगुत्ते, बमयारी अकिंचणे ॥४॥

छायानुवाद

थी वीर डरे नहीं कष्टों से, दुखों को सहने वाले हैं।
हैं समिति-गुप्त अरु ब्रह्मचारी, कुछ पास न रखने वाले हैं ॥४॥

भावानुवाद—फिर वीर प्रभु भयकर कष्टों से भी नहीं डरे वे अपार कष्टों को सहने में समर्थ हैं। ५ समिति तीन गुप्ति से गुप्त (रक्षित) ब्रह्मचारी और कुछ भी संग्रह नहीं रखने से अकिंचन है।

मूल—निम्ममे निरहंकारे, अकोहे माणवज्जिए।
अमाए लोभविमुक्के, पस ते छिन्न बंधणे ॥५॥

छायानुवाद

ममता मद से हैं दूर प्रभु अरु क्रोध मान से न्यारे हैं।
निर्लोभ, अमायी, शान्त अटल, कर्मों को काटने वाले हैं ॥५॥

भावानुवाद—प्रभु कैसे हैं? वे ममता और अहंकार से रहित हैं। क्रोध और बड़प्पन के मद से दूर हैं। माया और लोभ से मुक्त तथा शान्त हैं और कर्म व धर्मों को काटने से बंधन रहित हैं।

मूल—पुक्खरं व अलेवे अ, सन्खो इव निरंजणे।
जीवे वा अपडिग्घाई, गयण व निरासए ॥६॥

छायानुवाद

जो कमल पत्र सम निर्मल हैं, अरु शंख समान निरंजन हैं।
नहीं रुकते जीव समान, गगन सम, आश्रय हीन सनातन हैं ॥६॥

भावानुवाद—वे कमल के पत्र की तरह पाप मल से निर्लेप शंख के समान राग स्नेह के रंग से नहीं रंग जाने वाले, जीव के समान अप्रतिहत यानी नहीं रुकने वाले और आकाश की तरह आश्रय रहित हैं।

मूल—वाउव्वा अपडिबद्धे कुम्मो वा गुत्त इन्दिए।
विप्पमुक्के विहंगु व्व, खग्गिविसाणुव्व एगगे ॥७॥

सुयशों में, पूजा और अपमान में मोक्ष और संसार में भी एक समान रहने वाले हैं।

मूल—नाणेण दंसणेणं च, चरित्तेण तहेव य।
आलपए विहारेण, मद्दवेणज्जवेण य ॥१२॥

छायानुवाद

चारित्रज्ञान अरु दर्शन से, निरवद्यस्थान अनिरुद्ध विहार।
कोमलपन अरु सरल भाव से, हैं सब गुण में जिन सरदार ॥१२॥

भाषानुवाद—प्रभु ज्ञान दर्शन और चारित्र से, निरवद्य स्थान और अप्रतिबद्ध विहार से, कोमलता व सरलता से सर्व श्रेष्ठ हैं। और भी—

मूल—लाघवेण य खतीय, गुत्ती मुत्ती अणुत्तरे।
संवरेण तवेण य, संजमेण अणुत्तरे ॥ १३ ॥

छायानुवाद

द्रव्यभाव से लाघवपन है, क्षमा गुप्ति निर्लोभ महान।
संवर तप अरु संयम गुण से, वीर जगत में सर्व प्रधान ॥१३॥

भाषानुवाद—लाघव अर्थात् द्रव्य और भाव के हल्के पन से क्षमा से गुप्ति और निर्लोभता में सर्व श्रेष्ठ हैं। वे संवर, तप और संयम से भी जगत शिरोमणी हैं।

मूल—अणेग-गुण संयाकिण्णे अम्म सुस्काय भायए।
यादस्खएण सजाए, अणुत्तर—स्य०ी ॥ १४ ॥

छायानुवाद—दोहा—

गुण शत से आकीर्ण हो, धर्म शुक्ल का ध्यान।
करके घाति कर्म क्षय पाये केवल ज्ञान ॥ १४ ॥

भावानुवाद—इस प्रकार अनेक गुणों से परिपूर्ण प्रभु धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में तल्लीन रहे थे, जिससे घाति कर्म क्षय कर केवल ज्ञान को प्राप्त किया।

मूल—वीअरागे अ निग्गंथे, सव्वन्नू सव्वदसणी।
देविंद दाणविंदेहिं, निव्वित्तिय महामहे ।१५।

छायानुवाद

निग्रन्थ और गतरागी हो, तुम पूर्णज्ञान दर्शन धारी।
सुर असुर पति ने परम ज्ञान की, महिमा की है सुखकारी ॥१५॥

भावानुवाद—राग द्वेष से रहित होने के कारण आप वीतराग हैं। संग्रह नहीं करने से निग्रन्थ हैं। केवल ज्ञान प्राप्ति के समय देव और दानवों के इन्द्रों से जिनका महोत्सव किया गया है, ऐसे आप सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं।

मूल—सव्वभासाणुगाए य, भासाए सव्व ससए।
जुगवं सव्व जीवाण, छिंदई मिन्न गोयरे ॥ १६ ॥

छायानुवाद

है जीवमात्र के विविध विषय संशय सब साथ मिटा देते।
सब जीवों के जो बोध योग्य, भाषा से सब को दर्शाते ॥ १६ ॥

भावानुवाद—प्रभु सब भाषाओं का अनुगमन करने वाली अर्धमागधी भाषा से प्राणिमात्र के सब सन्देहों को, चाहे वे संशय अलग २ विषय के हों, एक साथ मिटा देते हैं। अर्थात् श्रोताओं के विविध प्रकार के संशय भी आपकी अर्द्धमागधी, जो सब के समझने योग्य भाषा है, उस से एक साथ नष्ट हो जाते हैं। किसी को कोई-स देह नहीं रहता।

मूल—हिय सुहे निस्सेस-कारए [illegible] य पाणिण।
महव्वयाणि पंचेव, पन्नवित्ता समायरे॥ १७॥

छायानुवाद

कर वर्णन पांच महाव्रत का, प्रभु ने जग का कल्याण किया।
उनमें गुण वर्णन पच्चीस कर, हित सुख का निर्माण किया॥

भावानुवाद—भावनायुक्त पांच महाव्रतों का वर्णन कर के आप जीवमात्र के हितकारी, सुख और कल्याण करने वाले होते हैं। अर्थात् आप जीवमात्र के हितकारी और कल्याण कर्ता इसलिए हैं कि आपने भावना युक्त महाव्रतों से शुद्ध मुनि-मार्ग का निरूपण किया है।

मूल—संसार सायरे घोरे (बुड्ड) जन्तु सतारए तारए।
जाणुत्थ देसिय तित्थ, सपत्ते पंचमिं गइ॥ १८॥

छायानुवाद

प्रभु भव सागर में गिरे हुए, जीवों को पार लगाते हैं।
नौका सम सत्पथ बतलाकर, फिर सिद्धिगति को जाते हैं॥१८॥

भावानुवाद—आप संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को तारने वाले हैं। आपने नौका की तरह धर्म तीर्थ को दिखाया, और उसे दिखाकर फिर आप पचमगति-मोक्ष स्थान को प्राप्त कर गये। अर्थात् धर्मतीर्थ के उपदेश से संसार में डूबते हुए प्राणियों को बचाकर आपने मोक्ष प्राप्त कर लिया।

मूल—से सिव अयले निच्चे, अरूवे अयरामरे।
कम्मप्पवच-विमुक्के, जय धीरे जय जिणे ॥ १६ ॥

छायानुवाद

शिव, अजर अमर अरु अचल नित्य, जो निराकार सत्ताधारी।
हो पूर्ण कर्म से मुक्त वीर जिन, जय जय तेरी बलिहारी ॥१६॥

भावानुवाद—अब मुक्त दशा का स्वरूप बताते हैं—मुक्त दशा में वह प्रभु शिव-उपद्रव रहित और अचल हैं। सदा एक रूप होने से नित्य और रूप रहित है। वृद्धावस्था तथा मरण से छूट जाने के कारण अजरामर और कर्म प्रपञ्च से मुक्त वह जिन-राग द्वेष का विजेता वीर प्रभु जयशील है।

मूल—से जिणे वद्धमाणे अ महावीरे महायसे।
असरण-दुक्ख-सिताण, अम्हाण देउ निव्वुइ ॥ २० ॥

छायानुवाद

वह वर्द्धमा जिनराज यशस्वी, महावीर हैं सुखकारी।
अगणित दु ों से पीडित हमको, अविचल सुख दें हितकारी ॥

भावानुवाद—महावीर और यशस्वी वह श्री वर्द्धमान प्रभु असरण दुखों से पीडित हम लोगों को निर्वृत्ति-शांति प्रदान करें।

मूल—इअं परम पमोआ सथुओ वीरनाहो।
परमपसमदाणं देहि तुझत्तणं मे।
भवमं सुह दुहेसु सग्ग सिद्धि भवेसु,
कणय कयवरेसु सत्तुमित्तेसु चावि ॥ २१ ॥

छायानुवाद

की मोद पूर्ण स्तुति यों मैंने, प्रभु समता भाव प्रदान करो।
मैं रहूं एकसा सुख दुख में, उपशम भावों का दान करो।
संसार मोक्ष या स्वर्ग मिले, मेरे मन में समभाव रहे।
हो हेम धूल या शत्रु मित्र सद्भाव सभी पर बना रहे॥

भावानुवाद—इस प्रकार उत्कृष्ट प्रमोद भाव से स्तुति किये हुए श्री वीर स्वामी उत्तम उपशम भाव के दान से मुझे समता प्रदान करें। जिससे विषय जन्य सुख और दुखों में स्वर्ग, मोक्ष और संसार में, सुवर्ण और मिट्टी में, शत्रु और मित्र में भी मेरी समभावना बनी रहे।

मूल—पयडि अ वसहि (इ) पहाणा, सीसेहिजिणेसराण सुगुरूणं
वीर जिण थुअ मेअं पढह, कअ अभयदेव सूरीहिं ॥२२॥

छायानुवाद

थे वसतिवास के आविर्भावक गणी जिनेश्वर गुरु जिनके।
उन अभयदेव ने वीर स्तुति की, पढ़ो टले पातक मन के ॥२२॥

भावानुवाद—वसतिवास के मार्ग को प्रकट करनेवाले आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि के सुशिष्य श्री अभयदेव सूरि के द्वारा बनाये हुए इस वीर जिनस्तव को सदा पढ़ते रहना चाहिये। इसको पढ़ने से सब दुख दूर होजाते हैं और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

॥ इति श्री वीर जिनस्तवम् ॥

गौतम–कुलक

[श्रीमद् गजेन्द्राचार्यकृत रत्नचन्द्रिका व्याख्या सहित]

लुद्धा बुद्धा य मूढा, चउत्थामीसगा हिया।
चउण्ह पि नराणं, लक्खण किं वियाहियं॥

छायानुवाद

लोभी पंडित मूर्ख पुरुष, दिये मिश्र बतलाय।
इनके लक्षण किस तरह, यह दीजे फरमाय॥

शब्दार्थ—भगवन्! मनुष्यों के जो आपने चार विभाग किये हैं। जैसे—(लुद्धा)–लुब्ध–लोभी, (बुद्धा) विद्वान्, (मूढा) मूर्ख, (चउत्थामीसगा) और चौथा मिश्र इन (चउण्ह) चारों (नराण) मनुष्यों के (लक्खण) लक्षण (किं) क्या (वियाहिय) फरमाये हैं? यह बताने की कृपा करें।

भावार्थ—भगवन्! मनुष्यों के जो आपने चार विभाग किये हैं। जैसे—लोभी, विद्वान्, मूर्ख, और मिश्र (जो लोभी, विद्वान् और मूर्ख भी हो) ऐसे चारों मनुष्यों के लक्षण क्या हैं? यह फरमाइये।

भगवानुवाच–भगवान फरमाते हैं—

लुद्धानरा अत्थपरा हवंति,
मूढा नरा कामपरा हवंति।
बुद्धा नरा खंतिपरा हवंति॥
मिस्सा नरा तिन्निवि आयरन्ति ॥ १ ॥

छायानुवाद

धन संग्रह में तत्पर जो लोभी हैं।
वे मूर्ख कामवश रहते जो भोगी हैं।
क्षमा आदिगुण युक्त यहाँ पण्डित हैं।
उपरोक्त भिन्न नर सभी गुणों से मण्डित हैं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(लुद्धा नरा) लोभी मनुष्य (अत्थपरा) धन जोड़ने में तत्पर (हवन्ति) होते हैं। (मूढा नरा) मूर्ख मनुष्य (कामपरा) काम भोग में आसक्त होते हैं। (बुद्धा नरा) बुद्धिमान मनुष्य (खन्तिपरा) क्षमा आदि गुणों में तत्पर होते हैं। (मिस्सा नरा) मिश्रनर (तिहिंवि) तीनों लक्षणों का (आयरन्ति) आचरण करते हैं।

भावार्थ—लोभी मनुष्य धन जोड़ने में तत्पर होते हैं। मूर्ख मनुष्य काम भोग में आसक्त होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य क्षमा आदि गुणों में तत्पर होते हैं। और मिश्रनर उपरोक्त तीनों लक्षणों का आचरण करते हैं।

विवेचन—इस गाथा में चार प्रकार के मनुष्य बताये गए हैं। जो लोभी आदि नाम से कहे गये हैं। उनमें प्रथम प्रकार के लोभी मनुष्य धन जोड़ने में सदा तत्पर रहते हैं। लोभ के वश उनको यह भी ध्यान नहीं रहता कि मेरा हित और अहित क्या है? सागरदत्त सेठ की तरह उनको सर्वनाश प्राप्त करना पड़ता है। मूर्ख मनुष्य सदा काम× भोगमें तत्पर रहते हैं। कामी मनुष्य इन पांच इन्द्रियोंके काम भोगों में तल्लीन रहते हैं। उनको

× उत्तम शब्दादि के प्राप्त की इच्छा को काम कहते हैं और गंध रस आदि के उपभोग को भोग कहते हैं।

महान् से महान् ज्ञानी का समागम होने पर भी विषयासक्ति के कारण बोध प्राप्त नहीं होता। इस मूर्खता से ही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने सात सौ वर्ष के अल्प आयुष्य में भी कामभोग की तीव्र आसक्ति से इतने कर्म संचय कर लिये कि उसको सातवीं नरक में जाना पड़ा। उसको अपने भोग की एक एक घड़ी पर २१ करोड़ ४६ लाख ७२ हजार ३४३ पल्य तक नरक के महान् दु:ख प्राप्त हुए। ७०० वर्ष की कुल घड़ियें १ करोड़ ५१ लाख ७२ हजार होती हैं। किन्तु नरक के दु:ख तो इनसे भी आगे करोड़ों पल्य पर बढ़ जाते हैं। इस प्रकार विषय भोग के कारण मूर्ख दुर्गति का अधिकारी बनता है। शास्त्र में कहा है कि—

जहा किंपाक फलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो॥

अर्थात्—जैसे किंपाक फल के खाने से परिणाम हितकारी नहीं होता उसी तरह भोगों के भोगने का परिणाम भी सुखकारी नहीं होता है। क्योंकि काम भोग इच्छा मात्र से भी दुर्गति में गिराने वाले होते हैं। कहा भी है—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं॥

अर्थात्—काम भोग भीतरी शल्य और विष के समान हैं। तथा ये डाढ में विष रखने वाले सांप से भी भयंकर हैं। भोगने की तो बात ही क्या? कामों की प्रार्थना करते हुए भी जीव उनको बिना पाये ही दुर्गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए इनको "खणमित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा" क्षण मात्र सुखकारी और बहुत काल के लिए दु:खदायी कहे हैं। काम भोग में सुख तो

सरसों के समान है लेकिन दुःख पर्वत के समान है। फिर भी मूर्ख मनुष्य काम भोग में तत्पर रहते हैं। परन्तु जो विरक्त हैं वे काम भोग में आसक्त नहीं होकर जम्बू स्वामी तथा धन्ना शालिभद्र की तरह विषयों को विष की तरह छोड़ देते हैं। इसके विपरीत विषयों में मूर्छित होकर पुंडरीक आदि दुर्गति को प्राप्त हुए हैं। ऐसा समझ कर काम भोग से निवृत्त होने वाले बुद्ध-जानकार कहाते हैं। इसलिए कहा है कि बुद्धिमान मनुष्य क्षमा-सहनशीलता में तत्पर होते हैं। उनको अनार्य लोगों की तरफ से अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं। किन्तु वे उनको शान्ति पूर्वक सहन कर लेते हैं। क्योंकि वे वास्तव में तत्व के जानकार हैं। शास्त्र ने जीव, अजीव पुण्य पाप आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव तत्व बताये हैं। इनका चिन्तन करना ही ज्ञानियों ने बुद्धि का सार कहा है। जैसा कि कहा है-'बुद्धेः फलं तत्व विचारणं च'। उपरोक्त उक्ति के अनुसार तत्व की विचारणा में ज्ञानी इतने मस्त हो जाते हैं कि उनको अपने शरीर के सुख दुःख का भी भान नहीं रहता। गज सुकुमाल ने मस्तक पर जलते हुए अंगारे रख देने पर भी सोमल ब्राह्मण पर रोष नहीं किया। किन्तु अपनी अबाधित आत्म शान्ति प्राप्त की। (४) चौथे प्रकार के मिश्र मनुष्य धन, काम और क्षमा तीनों का थोड़ा २ आचरण करते हैं। सामान्य गृहस्थ धर्मी साधक की तरह। जो कि धन भी जोड़ते हैं, संसार के विषय विलास भी करते हैं और शक्ति पूर्वक त्याग तप व क्षमा की आराधना भी करते हैं।

सच्चे पण्डित, साधु, शक्ति शाली और बन्धु कैसे होते हैं? उनके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

ते पण्डिया जे विरया विरोहे,
ते साहुणो जे समयं चरन्ति ।
ते सत्तिणो जे ण चयन्ति धम्मं,
ते बन्धवा जे वसणे हवन्ति ॥२॥

छायानुवाद

रहते विरोध से दूर वही पण्डित हैं।
समभावी ही तो साधु गुणों से मण्डित हैं ॥
नर वीर वही जो धर्म नहीं तजते हैं।
बान्धव वे ही, जो कठिन समय रहते हैं ॥

शब्दार्थ—ते पंडिया-वे पण्डित हैं (जे विरया विरोहे) जो विरोध से दूर रहते हैं। ते साहुणो-साधु वे हैं (जे समय) जो समता का (चरन्ति) पालन करते हैं। ते सत्तिणो-शक्ति शाली वे हैं (जे धम्म) जो धर्म को (ण चयन्ति) नहीं छोड़ते हैं। ते बन्धवा-भाई वे हैं (जे वसणे) जो विपत्ति के समय में साथी (हवन्ति) होते हैं।

भावार्थ—विरोध से दूर रहने वाले ही पण्डित हैं। जो समता रखते हैं वे साधु हैं। जो धर्म को नहीं छोड़ते वे ही शक्तिशाली हैं। बन्धु वे हैं जो विपत्ति काल में भी साथ रहते हैं।

विवेचन—विरोध से दूर रहने वाले ही पण्डित हैं। अर्थात् जिससे दूसरे को पीड़ा हो वैसे व्यवहार से ज्ञानी अलग रहते हैं। जैसा कि शास्त्र में कहा है—

एयं खु नाणीणो सारं जं न हिंसइ किंचणं

ज्ञान का सार यही है कि किसी को कष्ट न दिया जाय। इसके विपरीत—

> किंतीए पढियाए पयाणुकोडिए पराळभूयाए,
> ज एत्ताविन जाणिं त परस्स पीडा न कायव्वं।

अर्थात्—जिस विद्या से मनुष्य इतना भी नहीं समझे कि दूसरे को कष्ट नहीं देना चाहिए, तो पराल के समान निस्सार उस करोड़ों पदवाली विद्या को पढ़ने से क्या सार है? कुछ भी नहीं। इसलिये ज्ञान पढ़ने का सार यही है कि किसी को कष्ट नहीं दिया जाय। क्योंकि—

> अहिंसालक्षणो धर्मश्चाधर्मः प्राणिनां वधः।
> तस्मात् पूर्ण प्रयत्नेन, कर्त्तव्या प्राणिनां दया॥

अर्थात्—धर्म का लक्षण अहिंसा है और प्राणियों की हिंसा अधर्म है। इसलिए धर्मार्थियों को यत्न पूर्वक प्राणियों की दया करना चाहिये।

चाहे थोड़ा पढ़ा हो या अधिक किंतु जो भगवान की आज्ञा के अनुसार वैर विरोध से निवृत्त हो चुका है, वही ज्ञाता है। यथा च—

> किरिया काय किलेसो नाण भासो सानुगलसोलो।
> परगउपमा दम्भो, उवसम विणा विडम्बणा सव्वे॥

अर्थात्— क्रिया करना काया को कष्ट देना है और ज्ञान का अभ्यास कर । तालु को सुखाना है। पर उपदेश भी दम्भ है। क्योंकि उपशम भाव के बिना सब विडम्बना मात्र है।

वैर निवृत्ति का मूल कारण उपशम है। महाराज उदाई राजा ने इसी उपशम भाव से सिन्धु सौवीर आदि १६ देशों का राज्य छोड़ दिया और मुनि दीक्षा धारण करली। नीति भी यही कहती है कि—

> पढ़ पढ़ पोथी जग मूआ, पढ़िया न पण्डित होय।
> ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥

सारांश यह है कि वैर मिटा कर जग में प्रेम करने वाला ही पण्डित है। ऐसे पण्डित तो साधु होते हैं। इसलिए साधु का लक्षण कहते हैं। साधु वे हैं जो सब जीवों पर समता रखते हैं और शास्त्रानुसार चलते हैं। ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप रत्न त्रयी या निर्वाण का साधना करने से वे साधु कहाते हैं, जो समिति पूर्वक चलते हैं। जैसे खंधक मुनि के ५०० शिष्य जो घाणी में पील दिये गए फिर भी उन्होंने समता नहीं छोड़ी। यही है साधुता का आदर्श। ऐसी धैर्यता शक्ति सम्पन्न में ही होती है। अतः उसका लक्षण कहते हैं। जो विपत्ति के समय भी धर्म को नहीं छोड़ते वे ही शक्ति शाली हैं। जैसे-अरणक श्रावक और चन्द्रावतंस राजा हो गए हैं। अरणक को एक राक्षस ने बहुत कष्ट दिये। यहां तक कि उसके जहाज को समुद्र में गिरा दिया, परन्तु फिर भी अरणक ने अपना धर्म नहीं छोड़ा। इसी को कहते हैं शक्ति शालीपन।

सच्चे या धर्म—बन्धु या मित्र संसार में बहुत होते हैं, परन्तु सच्चे बन्धु वे कहलाते हैं जो कठिन समय में भी साथ देते हैं। इतिहास साक्षी देता है कि चेडा महाराज को अठारह देश के राजाओं ने युद्ध में साथ दिया था, जो कि उनके मित्र

थे। वास्तव में धर्म ही आत्मा का सच्चा मित्र है, जो उसको दुर्गति में गिरने ही नहीं देता। किन्तु मोह युक्त मित्रता में भी वे ही प्रशंसनीय हैं जो विपत्ति के समय साथ नहीं छोड़ते हैं और मित्र की मदद करते हैं।

क्रोध, मान माया और लोभ के वश प्राणी को क्या फल भोगना पड़ता है?

कोहाभिभूया ण सुहं लहंति।
माणंसिणो सोयपरा हवंति।
माया सिणो हुँति परस्स पेस्सा,
लुद्धा महिच्छा नरयं उवंति। ३।

छायानुवाद

क्रोधी मनुष्य सुख प्राप्त नहीं कर सकता।
मानी मनुष्य शोकातुर हो नित रहता।
मायावी रहते दास सदा औरों के।
अति लोभी जाता नरक धाम रो रो के। ३।

शब्दार्थ—कोहाभिभूया-क्रोध से अभिभूत मनुष्य (सुहं) सुख को (ण लहंति) प्राप्त नहीं करता। माणंसिणो-मानी मनुष्य (सोयपरा) शोक से व्याकुल (हवंति) रहते हैं। मायासिणो कपटी मनुष्य (परस्स) दूसरे के (पस्सा) दास होते हैं। लुद्धा-लोभी (महिच्छा) महा इच्छावाले मनुष्य (नरय) नरक को (उवंति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ-क्रोध से अभिभूत मनुष्य सुख को प्राप्त नहीं करते हैं। मानी मनुष्य शोक से व्याकुल रहते हैं। कपटी मनुष्य दूसरों के दास होते हैं और लोभी मनुष्य नरक को प्राप्त करते हैं।

विवेचन—क्रोध से व्याकुल मनुष्य शांति-सुख को नहीं पाता। क्योंकि क्रोध शरीर को तपाता, रक्त को सुखाता और आत्मा को अपना भान भुलाता है। क्रोध के समय मनुष्य में दया नहीं रहती। क्रोधी अनिष्ट वचन सुनकर काले नाग की तरह विष उगलने लगता है। अग्नि के समान जलते हुए क्रोधी के पास जाना भी नाशकारी होता है। कहा भी है—

> क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोध संसार वर्द्धनः ।
> धर्मक्षयकरः क्रोधः, तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ।

अर्थात्—क्रोध अनर्थ का मूल और संसार को बढ़ाने वाला है। क्रोध से धर्म का नाश होता है। इसलिये क्रोध का त्याग करना चाहिये। शास्त्र में कहा है कि 'कोहो पीइं पणासेइ,' क्रोध प्रीति का नाश करता है। उत्तम पुरुष इसी लिए क्रोध को मन में स्थान नहीं देते हैं। जैसे कि कहा है—

> उत्तमस्य क्षणं कोपः, मध्यमस्य घटी द्वयं ।
> अधमस्य अहोरात्रं पापानां मरणान्तकं ॥

अर्थात्—उत्तम पुरुष का क्रोध क्षण भर रहता है। मध्यम लोगों का दो घड़ी। अधम जन का दिन रात और पापियों का क्रोध मृत्यु पर्यन्त रहता है। ऐसा समझ कर बुद्धिमान को चाहिए कि उदय में आये हुए क्रोध का निष्फल करें। क्योंकि क्रोध से सुख नहीं मिलता है। कहावत प्रसिद्ध है कि—

> क्रोध कुड़ कुड़ कर मरे जैसा अग्नि की झल।
> समाधान सुखिया रहे, पावे सिद्धी माल।

यथा—अहंकारी मारीचवत्। क्रोधी मनुष्य को मान भी होता है। इसलिये मान का फल बताते हैं। मानी मनुष्य चिंता से आकुल रहते हैं। क्योंकि मान विनय का नाश करने वाला है। जैसा कि शास्त्र ने कहा है 'माणो विणय नासणो'। जब विनय नहीं तो ज्ञान कहाँ? और ज्ञान नहीं तो चारित्र कैसे हो सकता है? चारित्र के अभाव में मोक्ष नहीं होता। जब मोक्ष नहीं तो आत्यंतिक सुख कैसे हो सकता है? मान के वश पूर्व समय में बाहुबली, मरीचि, सिंहगुफावासी मुनि, चाणक्य दुर्योधन और रावण आदि कई पुरुषों ने दुःख और चिंता का अनुभव किया है। जो कथानक में प्रसिद्ध हो है। अहंकारी मनुष्य को किस प्रकार चिन्ता करनी पड़ती है इसके लिए राजा चन्द्रप्रद्योतन और दशार्णभद्र के उदाहरण पर्याप्त है। किसी समय महाराज दशार्णभद्र भगवान् महावीर को अपनी विस्तीर्ण ऋद्धि के साथ वन्दन करने के लिये गये। अन्य दर्शनार्थियों की अपेक्षा अपने साथ इतना बड़ा ठाठबाट देखकर दशार्णभद्र के मन में अहंभाव पैदा हो गया। दशार्णभद्र के इस मान को हटाने के लिये इन्द्र ने उपाय सोचा। उन्होंने ६४ हजार हाथी वैक्रिय शक्ति से निर्माण किये। हरएक हाथी के अनेकों मुख और दांतों की अलौकिक रचना की साथ ही इन्द्र ने अपने भी १६ अरब ७७ करोड़ ७२ लाख और १६ हजार रूप किये और इन्द्राणी के भी २१ करोड़ ७७ लाख और ८८ हजार रूप बनाये। उस अनुपम ऋद्धि के साथ इन्द्र आते [illegible] देखकर दशार्णभद्र राजा बहुत चिन्तित हुआ। लज्जा वश उसको अपना मुँह दिखाना भी कठिन हो गया। लेकिन वह तो विचारक था इस समझ गया और संयमी बन गया जिससे इन्द्र भी उसके चरणों में नतमस्तक हुआ। परन्तु उस

स्थान पर यदि कोई दूसरा होता तो सम्भव है वहाँ जीवित ही नहीं मिलता। ऐसा समझ कर बुद्धिमान पुरुष अहंकार नहीं करते हैं। कहा भी है—

सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्द, अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।

पुनश्च—कनक पात्र झलके नहीं, कासी बहु झननाय।
ऊँच पुरुष बोले मधुर, नीच बड़े ज्यूं बाय॥
भरिया ते झलके नहीं, झलके ते आधा।
मानुष ए ही पारखा, बोल्या ने लाधा॥

अर्थात्—मनुष्य की परीक्षा बोलने पर हो जाती है। इस प्रकार मान-अहंकार इस लोक में निन्दा और परलोक में नीच कुल आदि का कारण बनता है। अतएव त्याज्य है। मानी मनुष्य मान रक्षा के लिये कपट भी करता है। अत अब कपट का फल दिखाते हैं। मायावी दूसरे के गुलाम बनते हैं। 'माया मित्राणि नाशे,' अर्थात् कपट से मित्रता का नाश होता है। क्योंकि कपटी का व्यवहार 'विषकुम्भ पयोमुखे' के अनुसार होता है। कहा भी है—

मुख पद्मदलाकार, वाचा चन्दन शीतलम्।
हृदय कर्तरीयुक्त, त्रिविध धूर्त लक्षणम्॥

अर्थात्—मुख पर कमल की तरह सुन्दरता, वाणी में मिठास और हृदय में कैंची (कपट) रखना धूर्त का लक्षण है। कपट करने से मनुष्य को स्त्रीवेद का बंध करना पड़ता है। यदि कपट की अधिक भयंकरता हो तो जीव को पशु गति में भी भटकना पड़ता है। भगवान् मल्लिनाथ पूर्वभव में चन्द्र

यथा—अहंकारी नारीवत्। क्रोधी मनुष्य का मान भी होता है। इसलिये मान का फल बताते हैं। मानी मनुष्य चिंता में आकुल रहते हैं। क्योंकि मान विनय का नाश करने वाला है। जैसा कि शास्त्र ने कहा है 'माणो विणय नासणो'। जब विनय नहीं तो ज्ञान कहाँ? और ज्ञान नहीं तो चारित्र कैसे हो सकता है? चारित्र के अभाव में मोक्ष नहीं होता। जब मोक्ष नहीं तो आत्मिक सुख कैसे हो सकता है? मान के वश पूर्व समय में बाहुबली, मरीचि, सिंहगुफावासी मुनि, पाण्डव दुर्योधन और रावण आदि बड़े पुरुषों ने दुःख और चिंता का अनुभव किया है। जो कथानक में प्रसिद्ध ही है। अहंकारी मनुष्य को किस प्रकार चिंता करनी पड़ती है इसके लिए राजा चन्द्रप्रद्योतन और दशार्णभद्र के उदाहरण पर्याप्त हैं। किसी समय महाराज दशार्णभद्र भगवान् महावीर को अपनी विस्तीर्ण ऋद्धि के साथ वन्दन करने के लिये गये। अन्य दर्शनार्थियों की अपेक्षा अपने साथ इतना बड़ा ठाटबाट देखकर दशार्णभद्र के मन में अहंभाव पैदा हो गया। दशार्णभद्र के इस मान को हटाने के लिये इन्द्र ने उपाय सोचा। उन्होंने ६४ हजार हाथी वैक्रिय शक्ति से निर्माण किये। हरएक हाथी के ५०० मुख और दांतों की अलौकिक रचना की। साथ ही इन्द्र ने अपने भी १६ अरब ७७ करोड़ ७२ लाख और १६ हजार रूप किये और इन्द्राणी ने भी २१ करोड़ ७७ लाख और २८ हजार रूप बनाये। इस अनुपम ऋद्धि के साथ इन्द्र को आते हुए देखकर दशार्णभद्र राजा बहुत चिन्तित हुआ। लज्जा वश उसको अपना मुँह दिखाना भी कठिन हो गया। लेकिन वह तो विचारक था इससे समझ गया और संयमी बन गया जिससे इन्द्र भी उसके चरणों में नतमस्तक हुआ। परन्तु उस

स्थान पर यदि कोई दूसरा होता तो सम्भव है यहाँ जीवित ही नहीं मिलता। ऐसा समझ कर बुद्धिमान पुरुष अहंकार नहीं करते हैं। कहा भी है—

सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दं, अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।

पुनश्च—कनक पत्र झलके नहीं, कासी बहु झनझनाय।
कँच पुरुष बोले मधुर, नीच बके ज्यूं वाय॥
भरिया ते झलके नहीं, झलके ते आधा।
मानुष ए ही पारखा, बोल्या ने लाधा॥

अर्थात्—मनुष्य की परीक्षा बोलने पर हो जाती है। इस प्रकार मान-अहंकार इस लोक में निन्दा और परलोक में नीच कुल आदि का कारण बनता है। अतएव त्याज्य है। मानी मनुष्य मान रक्षा के लिये कपट भी करता है। सब-सब कपट का फल दिखाते हैं। मायावी दूसरे के गुलाम बनते हैं। 'माया मित्ताणि नासेइ' अर्थात् कपट से मित्रता का नाश होता है। क्योंकि कपटी का व्यवहार 'विषकुम्भ पयोमुखे' के अनुसार होता है। कहा भी है—

मुखं पद्मदलाकारं, वाचा चन्दन शीतलम्।
हृदयं कर्तरीयुक्तं, त्रिविधं धूर्त लक्षणम्॥

अर्थात्—मुख पर कमल की तरह सुन्दरता, वाणी में मिठास और हृदय में कैंची (कपट) रखना धूर्त का लक्षण है। कपट करने से मनुष्य को स्त्रीवेद का बंध करना पड़ता है। यदि कपट की अधिक भयकरता हो तो जीव को पशु गति में भी भटकना पड़ता है। भगवान् मल्लिनाथ पूर्वभव में ...

तपस्या से तीर्थंकर पद को प्राप्ति करके भी कपट के प्रताप से स्त्री रूप में पैदा हुए। जब तपस्या जैसे शुभ मार्ग में किया हुआ सूक्ष्म कपट भी ऐसा भयङ्कर होता है, तब स्वार्थ साधना में किया हुआ छल कपट कैसा भयङ्कर होगा ? इसका तो सहज ही अनुमान कर सकते हैं। प्रायः कपट किसी न किसी लोभ से किया जाता है। इसलिये अब लोभ का फल बताते हैं। जो लोभी होता है वह अपार तृष्णा के कारण नरक में जाता है। क्योंकि जो बड़ी इच्छा वाले होते हैं उनकी तृष्णा अथाह होती है। संसार का धन तो संख्यात या असंख्यात ही है, किन्तु तृष्णा अनन्त है। अनन्त को पूर्ण करना असम्भव है। इसलिये कहा है—

> गगनाऽग्नि-यमो-राजा समुद्र उदर गृहम् ।
> सप्तैतानि न पूर्यन्ते, पूर्यमाणानि नित्यशः ॥

अर्थात्—आकाश, अग्नि, यम, मृत्यु, राजा समुद्र पेट और घर ये सात जगह सदा भरते हुए भी पूर्ण नहीं होती। अनन्त पदार्थ रखने पर भी आकाश में सदा पोल ही पोल रहती है। गाँव भर की चीजें जलाकर भी आग की भूख बनी रहती है। अगणित जीवों को मार लेने पर भी काल का मुँह खुला ही रहता है। ऐसे ही राजा, समुद्र, पेट और घर भी नहीं भरते हैं। लोभी पग २ कष्ट सहते हैं, यह सबको विदित ही है। ज्ञानियों ने कहा है कि 'लोभो सव्व विणासणो' अर्थात् लोभ सबका नाश करने वाला है। लोभ आग के समान है जो उत्तम धर्म रूप धन को जला देता है। इसके द्वारा अपयश रूप धूम्र की वृद्धि होती है और भय भस्म की तरह फैल जाता है।

ज्वाला निकलती है। मोह वायु से प्रदीप्त बनी हुई यह आग आत्मा का सर्वनाश कर बैठती है। संसार के प्राणी जो लोभ की आग में जल रहे हैं, वे इस लोक में क्या परलोक में भी दुर्गति भोगते हैं। सभूम चक्रवर्ती इसी लोभ के कारण सातवीं नरक का अधिकारी बना था। छह खंड का राज्य मिल जाने पर भी उसको सन्तोष नहीं हुआ। उसने चाहा कि मैं सातवां खंड मिलाकर सवा चक्रवर्ती बनूं। सेवक देवों ने इससे प्रार्थना की कि—स्वामिन्! आपने छह खंड का राज्य प्राप्त कर लिया है। अब अधिक तृष्णा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि चक्रवर्ती छह खंड का ही स्वामी होता है। सातवें खंड को पाने में अहित की आशंका रहती है। परन्तु लोभवश चक्रवर्ती ने देवों की बात न मान कर अपना जहाज समुद्र में बढ़ा दिया। परिणाम यह हुआ कि उसे वहीं समुद्र में डूब जाना पड़ा और सातवें नरक के बजाय लोभ की भयंकरता से सातवीं नरक में जाना पड़ा। इसीलिये कहा है कि लोभी मनुष्य नरक गति को प्राप्त करता है।

पुनः क्रोधादि कषायों से होने वाली हानियों को प्रकारान्तर से बताते हैं—

कोहो विस किं अमयं अहिंसा,
माणो अरी किं हियमप्पमाओ।
माया भयं किं, सरणं तु सच्चं,
लोहो दुहं किं सुहमाहु तुट्ठी ॥४॥

छायानुवाद

विष क्रोध अहिंसा ही अमृत पहिचानों।
रिपु दर्प मित्र तम अप्रमाद को मानो॥

सुगति धरण नहीं कर पाती। किन्तु अप्रमाद दशा के कारण ही देशारण भद्र ने इन्द्र को भी लज्जित कर दिया और बाहुबली मुनि भी इसी अप्रमाद से केवल ज्ञान को प्राप्त कर गये। इसलिये कहा है कि अप्रमाद ही सच्चा हितैषी मित्र है। मित्र भय से बचाता है। इसलिये आचार्य भय का स्वरूप बताते हैं कि ५ कपट ही भय का स्थान है। क्योंकि मायावी प्राणी सदा हृदय में चिंतित रहते हैं। उसको इस बात का हर समय विचार रहता है कि कहीं मेरी पोल प्रकट न हो जाय। और तो क्या ? सोते समय भी कपटी को चैन से निद्रा नहीं आती है। भयभीत के लिये शरण की अपेक्षा होती है। इस लिये आचार्य कहते हैं कि ६ सत्य ही शरण है। क्योंकि सत्य में ही सब प्रतिष्ठित है। धर्म का सार भी सत्य ही है। सत्य के बिना मनुष्य वैसा ही शोभा-हीन दिखता है जैसा कि जीव के बिना शरीर। इसी बात को कवि ने कहा है—

काया हंस विना नदी जल विना दाता विना याचका
भार्या भक्ति विना कुलं सुत विना धेनुश्च दुग्धं विना।
ग्रामा दीह विना पुरं नृप विना पुण्यं विना मानवा
एते सर्व न शोभन्ते जिनवर वाणी च सत्यं विना ॥

सत्य के प्रभाव से अग्नि जल के समान समुद्र टापू के समान, शस्त्र फूल के समान, कूप शिखर के समान, सिंह मृग के समान, विष अमृत के समान और सर्प माला जाते हैं। विषमस्थल भी सम बन जाते हैं। बढ़कर कोई शरण नहीं है। इसी सत्य के अपनी मूल स्वीकार कर आत्म

समय के सत्य के कारण उसका उद्धार हो गया। लोभ से बढ़कर संसार में दुख नहीं है। क्योंकि लोभ के वश हो प्राणी इस लोक और परलोक में विविध प्रकार के कष्टों को प्राप्त करता है। मरणान्त कष्ट और नरक की यातनाएँ भी इसी लोभ के कारण प्राप्त होती हैं। इसलिये लोभ भयंकर दुख का कारण है। लोभ से होने वाले दुख से मुक्त होने के लिये आचार्य ने सन्तोष को सुख कहा है। सन्तोष से बढ़कर संसार में कोई सुख नहीं है। कहावत भी प्रसिद्ध है कि— 'सन्तोष परम सुखम्' कपिल ब्राह्मण ने इसी सन्तोष के कारण केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया था। राजा ने राज्य तक भी अर्पण करने का वचन दिया, किन्तु सन्तोष पर आरूढ हुए कपिल को वे सब नीरस मालूम होने लगे। उसने यह कहावत चरितार्थ करदी कि—

गो धन, गज धन, रत्न धन, कंचन खान सुखान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूलि समान॥

बुद्धि आदि कैसे मनुष्य को भजती है—

बुद्धि भजइ भयए विणीय,
कुद्ध कुसील भयइ अकित्ती।
समिन्न चित्त भयइ अलच्छी,
सच्चे ट्ठियस्स भयए सिरीअ ॥५॥

छायानुवाद

जो शान्त और विनयी उनको मति भजती।
क्रोधी कुशील का सदा अकीर्ति मिलती॥

अस्थिर चित्त वाले दीन सदा रहते हैं।
सत्पथ के पथिक लक्ष्मी वरण करते हैं।

शब्दार्थ—अचंड—क्रोध रहित तथा (विणीय) विनयशील को (वुद्धी) बुद्धि भजती है। अकित्ती—अकीर्ति (कुद्ध) क्रोधी व (कुशील) कुशील को भजती है। अलच्छी-दरिद्रता (संभिन्नचित्त) चपल और भ्रान्त चित्त वाले को (भयए) भजती है। सिरीअ—लक्ष्मी (सच्चेट्ठियस्स) सत्य मार्ग में स्थित पुरुष को।

भावार्थ—क्रोध रहित और विनीत मनुष्य को बुद्धि भजती है। क्रोधी और कुशील मनुष्य अकीर्ति को पाते हैं। चपल हृदय वाले दरिद्रता के दास होते हैं, और सत्यमार्ग में स्थित पुरुष लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

विवेचन—इस गाथा में यह बताया गया है कि बुद्धि आदि कैसे को भजती है? सब से पहले यह बताया गया है कि क्रोध रहित विनीत मनुष्य को बुद्धि वरण करती है। क्योंकि ज्ञान प्राप्ति के अनेक कारणों में विनय प्रधान कारण है। आचार्यों ने विनय पाँच प्रकार का कहा है—गुरुजनों के आने पर उठकर खड़े होना १ अञ्जलि जोड़ना २ उनको बैठने के लिये आसन देना ३ भक्ति करना ४ और भावपूर्वक सेवा करना ५। इसीलिये शास्त्र में कहा है कि—एव धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो।' अर्थात्—विनय धर्म का मूल है और मोक्ष उसका फल है। विनय के कारण ही राजमन्त्री अभयकुमार बुद्धि का सागर समझा जाता था। इसी प्रकार क्रोध और बुरे आचरण वाले को अकीर्ति सेवन करती है। अर्थात् जिसमें क्रोध है

और जिसका आचरण गिरा हुआ है, संसार में उसकी अकीर्ति अनायास ही फैल जाती है। अकीर्ति दरिद्रता की सहचारिणी है। इसलिये कहते हैं कि समिद्धचित्त यानी चिन्ता से भग्न हृदय वाले को दरिद्रता भजती है। क्योंकि जिसका चित्त ही स्थिर नहीं उसको द्रव्य-लक्ष्मी-धन या भाव लक्ष्मी-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसलिये वह दोनों प्रकार की लक्ष्मी से वञ्चित रहता है। इससे प्रतिकूल जो सत्य में स्थित है, उसको लक्ष्मी वरण करती है। राजा विक्रमादित्य सत्यमार्ग में स्थिर होने के कारण ही विस्तीर्ण राज्य का स्वामी बना। वेतालादि विविध भय के कारण भी उसका बिगाड़ नहीं कर सके।

कौन किसको छोड़ता है—

चयति मित्ताणि नरं कयग्घं,
चयंति पावाइं मुणिं जयंतं।
चयंति सुक्काणि सराणि हंसा,
चयति बुद्धी कुवियं मणुस्सं ॥६॥

छायानुवाद

कृतघ्न पुरुष को मित्र छोड़ देते हैं।
सयमरत मुनि से पाप दूर भगते हैं॥
सूखे सरवर को छोड़ हंस उड़ जाते।
त्यों क्रोधी जन मति-हीन ठोकर खाते॥

शब्दार्थ—मित्ताणि—मित्र जन (कयग्घं) कृतघ्न (नरं) मनुष्य को (चयति) छोड़ते हैं। जयंत—संयम में यत्न करने वाले (मुणिं) मुनि को (पावाइं) पापकर्म (चयंति)

हैं। शुष्काणि–सूखे (सरांसि) सरों को (हंसा) हंस (त्यजंति) छोड़ते हैं। सुधी बुद्धि (कुपितं) क्रोधी (मनुष्यं) मनुष्य को (त्यजति) छोड़ती है।

भावार्थ—कृतघ्न मनुज को मित्र छोड़ते हैं। संयमी मुनि को पाप छोड़ते हैं। सूखे हुए तालाब को हंस छोड़ते हैं और क्रोधी मनुष्य को बुद्धि त्यागती है।

विवेचन—सर्व प्रथम कृतघ्न पुरुष को मित्र छोड़ देते हैं। अर्थात् जो किए हुए गुण या उपकार को भूलने वाला है, योग्य मित्र उसका संग नहीं करते हैं। क्योंकि कृतघ्न का भार पर्वत से भी अधिक माना गया है। २ प्रयत्नशील साधु को पाप छोड़ देते हैं। अर्थात् जो साधु खान–पान, रहन–सहन व भाषा आदि प्रवृत्तियों में संयमशील है उनके पाप शीघ्र ही छूट जाते हैं। ३ सूखे सरवर को हंस छोड़ देते हैं। देखा जाता है कि जब सरोवर में पानी नहीं रहता और कमल आदि सूख जाते हैं, तब उसके आश्रय में रहे हुए हंस आदि पक्षी भी उसे छोड़कर चले जाते हैं। कहा भी है—

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगा, शुष्कं सरः सारसाः।
निर्गन्धं कुसुमं त्यजन्ति मधुपा, दग्धं वनान्तं मृगाः॥
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका, भ्रष्टं नृपं सेवकाः।
सर्वे स्वार्थवशाद् रमन्ति पुरुषा, नोकस्य को वल्लभः॥

अर्थात्—फल रहित वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं। सूखे तालाब को सारस और गन्ध रहित फूल को भ्रमर छोड़ जाते हैं। जले हुए वन को मृग छोड़ देते हैं। द्रव्य हीन पुरुष को

गणिका, तथा पद भ्रष्ट राजा को सेवक छोड़ जाते हैं। क्योंकि सभी स्वार्थवश रमण करते हैं। परन्तु वास्तव में किसी का कोई प्यारा नहीं है।

अब गुण की अपेक्षा कौन गुण कैसे मनुष्य का त्याग देता है, यह बताते हैं। ४ क्रोधी मनुष्य को बुद्धि त्याग देती है। क्योंकि क्रोध के कारण बुद्धि मलिन हो जाती है और ज्ञान तन्तु भी कमजोर हो जाते हैं। जिससे फिर तत्क्रोध करने वाला सहज ही अपने बुद्धि बल को खो बैठता है।

किन २ को उपदेश देना व्यर्थ होता है—

अइय अत्थे कहिए विलावो,
असप्पदारं कहिए विलावो।
विक्खित्त चित्ते कहिए विलावो,
बहु कुसिस्से कहिए विलावो ॥७॥

छायानुवाद

बीती बातों का वर्णन है दुखकारी।
असमर्थ पुरुष को कहना भी दुखकारी।
विक्षिप्त मनुज को कहना है दुखदायी।
अविनीत शिष्य-गुरु का कहना दुखदायी॥

शब्दार्थ—अइयमत्थे—किसी चीज के खो जाने पर या गई बात के विषय में (कहिए) कहना (विलावो) विलाप का का कारण है। असप्पदारं-असमर्थ का (कहिए) कहना (विलावो) विलाप का कारण है। विक्खित्तचित्ते-भ्रान्त चित्त वाले का और (बहु कुसिस्से) अविनीत शिष्य या गुरु को कहना भी (विलावो) विलाप का कारण है।

लघु कारण से ही मूर्ख लाल हो जाते ।
सच्चे मुनि तो निज आत्म-तत्त्व अपनाते ।

शब्दार्थ—दृढदरा—साधारण से अपराध पर दृढ विधान करने वाले (दुट्ठाहिवा) दुष्ट स्वामी (हवंति) होते हैं। विज्ञाहरा—विद्याधर (मंतपरा) मंत्र के साधन व प्रयोग में तत्पर (हवंति) होते हैं। मुक्खालरा-मूर्ख मनुष्य (कोवणा) क्रोध करने में और (सुपाहूणो) सच्चे साधु (तत्तपरा) तत्त्व विचार में तत्पर (हवंति) होते हैं।

भावार्थ—साधारण से अपराध पर ही दृढ विधान करने वाला दुष्ट राजा होता है विद्याधर मंत्र के साधन व प्रयोग में तत्पर होते हैं। मूर्ख मनुष्य छोटासा कारण पाकर अथवा बिना कारण भी क्रोध में लाल हो जाते हैं और सच्चे साधु सदा तत्त्व विचार में प्रयत्नशील रहते हैं।

विवेचन—दूसरों के मन को विद्ध करना दुष्टों का काम है। इसलिये यह दुष्ट राजा आदि के लक्षण कहते हैं—१ दुष्ट राजा सदा दंड देने में तत्पर होते हैं। क्योंकि वे यह समझते हैं कि मेरे दंड की उग्रता से लोग भयभीत रहेंगे और कोई भी मेरे सम्मुख कुछ नहीं बोल सकेगा। जिस राजा की जनता पर धाक न जमी हो वह राजा ही कैसा ? अतः इस ध्येय के अनुसार वे हर समय अपनी दुष्ट नीति का ही प्रयोग करते रहते हैं। २ विद्याधर अधिकता से मंत्र साधना में तत्पर होते हैं। क्योंकि साधना के द्वारा अधिकाधिक विद्या बल प्राप्त करना ही उनका प्रधान लक्ष्य होता है।

३ मूर्ख मनुष्य क्रोध करने में तत्पर रहते हैं। चाहे उन्हें

योग्य शिक्षा भी दी जाय, वे उसे विपरीत ही समझते हैं। रावण ने अपने हित मित्रों को भी इसी मूर्खता से शत्रु समझ लिये थे और विभीषण जैसे योग्य सलाह देने वालों का भी तिरस्कार कर दिया था। इसलिये कहा है कि—

'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये'

और भी—सीख उनको दीजिये जाँको सीख सुहाय।

सीख दीनी बानरा को, घर बया को जाय।

यथा च— उपदेशो न दातव्य यादृशे तादृशे नरे।

यथा वानर-मूर्खेण, सुगृही निगृही कृता।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मूर्ख मनुष्य बिना कारण भी कोपातुर हो जाते हैं। और वे अपने सलाहकार का भी नाश करना चाहते हैं।

४ क्रोध को त्यागने वाले सन्त होते हैं। अतः साधुओं का लक्षण बताते हैं। उत्तम साधु सदा तत्व चिन्तन में तत्पर रहते हैं। क्योंकि आत्म तत्व आदि पारमार्थिक बातों के सिवाय अन्य संसार के विषय उनको नीरस मालूम होते हैं, और वे संसारी प्राणी से अपनी विशेषता भी इसी में समझते हैं कि अधिक से अधिक समय तत्व चिन्तन में बिताया जाय। तत्व चिन्तन भी एक प्रकार की तपस्या है। इसलिये तप आदि की शोभा दिखाते हैं—

सोहा भवे उग्गतवस्स खन्ती,
समाहि जोगो उवसमस्स सोहा।

नाण सुझाण चरणस्स सोहा,
सीसस्स सोहा विणय पविस्रो ॥६॥

छायानुवाद

है कठिन तपस्या शोभित सत्क्षांति से।
उपशम की शोभा समाधियुत् भावों से।
शुभ-ध्यान ज्ञान से शोभित क्रिया यथामी।
शिष्यों की शोभा विनय-शीलता भारी ॥६॥

शब्दार्थ—(उग्गतवस्स)-उग्रतपस्वी की (खन्ती) क्षमा से (उवसमस्स) उपशम भाव की (समाहि जोगो) समाधि भाव से (चरणस्स) चारित्र की (सुझाण) शुभ ध्यान और (नाण) ज्ञा से (सीसस्स) शिष्य का (विणय) विनयशीलता से (सोह शोभा (भवे) होती है।

भावार्थ—उग्र तपस्वी की क्षमा से, उपशम भाव की स थियोग से, चारित्र धर्म का शुभ ध्यान और विचार पूर्ण ज्ञा से और शिष्य की विनय शीलता से शोभा होती है।

विवेचन—साधुपन तप उपशम आदि भावों की साध से होता है। अतएव इस गाथा में यह बताया है कि तप उपशम व चारित्र आदि की शोभा किससे होता है।

१ क्षमा—कठिन तप की शोभा क्षमा है। जिस तपस्या साथ क्षमा नहीं, वह दूषित तप है। क्योंकि तपस्या करके यदि क्रोध का नहीं मिटाया तो वह तप कर्म निजरा में स

नहीं होकर कषाय भाव के कारण कर्म बंध का कारण बन जाता है। इसलिये कहा है कि—

क्रोड़ वर्ष को तप तपे, एक सहे जो गाल।
तिण में नफो है घणो, मेटो मन की झाल॥

महामुनि चित्त ने उग्र तपस्या के साथ क्षमा रखते हुए बड़ी २ लब्धियाँ प्राप्त करली थी। साढे सोलह देश को एक साथ भस्म कर देने वाली तेजो लेश्या की शक्ति भी उनको प्राप्त हो गई थी। परन्तु उन्होंने अपमान सहकर भी क्रोध करना अच्छा नहीं समझा। इसी के फल स्वरूप वे आराधक बने और दूसरे ही भव में मुक्त हो गये। यह है तपस्या के साथ क्षमा रखने का महत्व।

२ उपशमभाव–क्षमा उपशम भाव है। इसलिये उपशम भाव की शोभा कहते हैं। ज्ञान दर्शन और चारित्र की समाधि उपशम भाव की शोभा है। ज्ञान दर्शन और चारित्र के अभाव में दिखाऊ उपशम यानी शान्तपना तो एकेन्द्रिय या जड़ में भी विद्यमान है। फिर मनुष्य के उस ज्ञान शून्य उपशम की विशेषता ही क्या? इसलिये कहा है कि ज्ञान पूर्वक योगों की समाधि ही उपशम भाव की शोभा है। अब यह बताते हैं कि उपशम को शोभित करने वाले चारित्र की क्या शोभा है?

३ चारित्र—शुभ ध्यान युक्त ज्ञान से चारित्र की शोभा होती है। जिस क्रिया में ज्ञान नहीं वह केवल अज्ञान कष्ट है। भूखे प्यासे तो पशु भी कई दिन रह जाते हैं, किन्तु वह उनका कष्टानुभव तप नहीं कहाता। इसी प्रकार समाज के तुच्छ सुखों

के लिये कई लोग फलाहार पर ही रहते हैं और व्रत करते हैं। स्त्री समागम भी नहीं करते हैं। कठिन आसनों से जगल में मन्त्र की साधना करते हैं। किन्तु हिंसा झूठ चोरी और स्त्री संग के छोड़ देने पर भी उनकी वह क्रिया चारित्र नहीं कहाती। क्योंकि उसमें शुभ ध्यान और ज्ञान नहीं है। इसलिये कहा है कि धर्म ध्यान के साथ सद्ज्ञान वाली क्रिया ही चारित्र है, और सम्यग्ज्ञान ही चारित्र की शोभा है। विधिपूर्वक चारित्र की शिक्षा शिष्य बनने से मिलती है। अतः अब शिष्य की शोभा बताते हैं।

४ शिष्य–'विनय शिष्यस्य भूषणम्' अर्थात् शिष्य की शोभा विनय से होती है। जहाँ विनय नहीं वहाँ ज्ञान प्राप्ति की योग्यता नहीं होती है। जो ज्ञान का अधिकारी नहीं वह फिर शिष्य कैसा ? इसलिये शिष्य को चाहिये कि वह विनय सम्पन्न रहे। द्रव्य से गुरुजनों की अपेक्षा अपना आसन नीचा रखे। नीचे स्थान पर बैठे और नीचा होकर ही वन्दना करे। क्योंकि शास्त्र में कहा है—

विणओ जिण सासण मूलं, विणओ निव्वाण-साहओ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो।
विणयाओ णाणं णाणाओ दंसणं, दंसणाओ चरणं
चरणेहिंतो मोक्खं, मोक्खे सुहं अणाबाहं।

अर्थात्—विनय जिन शासन का मूल और विनय ही निर्वाण का साधन है। जो विनय से रहित है उसको धर्म कहाँ और तप कहाँ ? विनय से ज्ञान और ज्ञान से दर्शन की प्राप्ति होती है। दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष मिलता है।

जिस मोक्ष में निराबाध सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षु शिष्य को विनय के आराधन में सदा यत्न करना चाहिये। पंथक मुनि ने इसी विनय के प्रभाव से शिथिल बने हुए अपने गुरु का उद्धार किया था। शैलक राजर्षि को जिस समय रुग्णावस्था के कारण एक जगह ठहरना पड़ा था। उस समय उनके सांसारिक पुत्र जो कि राजा थे, उन्होंने महाराज के औषधोपचार का प्रबन्ध किया। जिस से कुछ ही समय में शैलक ऋषि स्वस्थ हो गये। किन्तु सरस और मादक पदार्थों के कारण संयम भाव की तरफ उनको ऐसी उदासीनता आ गई कि स्वस्थ होने पर भी विहार करने की इच्छा नहीं हुई। परिणाम स्वरूप अन्य ४९९ शिष्य शैलक राजर्षि को छोड़कर अन्य देशान्तर में विहार कर गये। पंथक मुनि ही मात्र उनकी सेवा में रहे। गुरुजी के प्रमादशील बन जाने पर भी वे निरन्तर उनकी सेवा में तत्पर रहा करते थे। एक समय चातुर्मासिक पर्व का दिन था। पंथक मुनि ने प्रतिक्रमण करके क्षमापना करते हुए गुरु महाराज के चरण स्पर्श किये। चरण पर हाथ लगते ही शैलक राजर्षि की नींद खुल गई। उन्होंने क्रोध में आकर कहा-कौन है? किसने मुझे असमय में जगा दिया? पंथक ने नम्रता से उत्तर दिया— भगवन्! यह तो मैं ही हूँ। आज चौमासी प्रतिक्रमण की क्षमा-याचना करने के लिये मैंने आपके चरण का स्पर्श किया है। इसलिये क्षमा करें। गुरु ने पूछा-क्या आज चौमासी पर्व है? पंथक ने नम्रता से कहा-हाँ महाराज, आज कार्तिकी चौमासी का दिन है। गुरुजी सोचने लगे—क्या मैं इतना शिथिल बन गया हूँ कि चार महिने के लम्बे काल का भी मुझे पता नहीं। अहो! कितनी प्रमाद शीलता? जिस समय मुझे

आत्म शुद्धि करने को तत्पर रहना चाहिये उस समय मैं सोया पड़ा हूँ। धिक्कार है मुझे। वास्तव में मेरी इस प्रमादशीलता से ही अन्य शिष्यों ने मुझे त्याग दिया है। अब मुझे अपने पूर्व दोषों की शुद्धि करके यहाँ से शीघ्र ही विहार कर देना चाहिये। ऐसा सोच कर शैलक राजर्षि ने अपनी शुद्धि करली और जनपद में विचरते हुए फिर से अपने सब शिष्यों के साथ पूर्ववत् आत्म कल्याण की साधना करने लगे। इस प्रकार पंथक मुनि की अग्लान भाव से की गई सेवा ने शैलक राजर्षि को पुनः जागृत कर दिया था। इसीलिये कहा है कि शिष्य की शोभा विनय से होती है।

शिष्य ब्रह्मचारी होता है। अतः अब यह बताया जाता है कि ब्रह्मचारी कैसे शोभा पाता है—

अभूसणो सोहइ बंभयारी
अकिंचणे सोहइ दिक्खधारी।
बुद्धिजुओ सोहइ रायमंती,
लज्जाजुआ सोहइ एकपत्ती ॥१०॥

छायानुवाद

सादे पन से शोभित होता ब्रह्मचारी
निष्कांचन शोभित होता व्रतधारी।
है कुशल बुद्धि ही राज्यमंत्री की शोभा।
लज्जा से होती पतिव्रता की शोभा ॥१०॥

शब्दार्थ—अभूसणो-आभूषणों से रहित (बंभयारी) ब्रह्मचारी (सोहइ) शोभा पाता है। दिक्खधारी—दीक्षा धारण

किया हुआ साधु (अकिंचणो) निर्लोभी मन से (सोहइ) शोभा पाता है। बुद्धिजुआ-बुद्धि सम्पन्न (रायमंती) राज्य मंत्री (सोहइ) शोभित होता है। एग-एक पतिवाली पतिव्रता स्त्री (लज्जाजुआ) लज्जायुक्त (सोहइ) शोभा पाती है।

भावार्थ—सोना चान्दी आदि के गहनों से रहित ब्रह्मचारी शोभा पाता है। दीक्षा धारण किया हुआ साधु धनकनकादि का त्यागी होकर शोभित होता है। राज्यमंत्री कुशल बुद्धि से शोभा पाता है और पतिव्रता स्त्री लज्जा से शोभा पाती है।

विवेचन—ब्रह्मचारी बाहिरी आभूषणों से रहित शोभा पाता है। शरीर को अलंकृत करने के लिये लोग केशालंकार वस्त्रालंकार तथा सोना चान्दी के आभूषणों से देह का शृंगार करते हैं। परन्तु ब्रह्मचारी के लिये इन आभूषणों का अभाव ही शोभा का कारण है। बाहरी अलंकार तो उनके लिये दूषण कहे गये हैं। जैसा कि—

सुख शय्यासन वस्त्र, ताम्बूल स्नानमर्दनम्।
दन्तकाष्ठ सुगन्ध च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम्॥

तथा च—

ताम्बूल सूक्ष्म वस्त्राणि, स्त्री कथेन्द्रिय पोषणम्।
दिवा निद्रा सदा क्रोधो, व्रतीना पतितानि षट्।

अर्थात्—पलंग आदि सुख-शय्या महीन वस्त्र ताम्बूल-पान आदि, स्नान मर्दन व तवाए और सुगन्धित वस्तुओं का सेवन ये ब्रह्मचर्य में दूषण हैं।

ब्रह्मचारी दीक्षित होता है। इसलिये कहते हैं कि 'आकाचन शोभते दीक्षाधारी'। त्यागी मुनि की शोभा अकिंचनपन है। जहां द्रव्य संग्रह होगा, वहां स्त्री संग आदि अन्य प्रपंचों का बढ़ना सहज है। इसलिये जो दीक्षित हो गया है उसको कांचन आदि के संग्रह से दूर रहना चाहिये। इसी में उनकी शोभा है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि—'साधु कौड़ी रखे तो कौड़ी का'। कांचन त्यागी की तरह जो धनकनकादि के स्वामी हैं, ऐसे गृहस्थियों की शोभा बताते हैं— ३ राज्यमंत्री या प्रधान की शोभा बुद्धि बल से होती है। क्योंकि राज्य का कार्यभार कुशल मंत्री के द्वारा ही चलता है। जिस राजा का मंत्री कुशल न हो उसका राज्य सुरक्षित नहीं रहता। इसलिये कहा गया है कि— 'मंत्रि-हीनश्च यो राजा तस्य राज्य विनश्यति' क्योंकि मंत्री राजा का आधा अंग होता है। अतएव उसका अभयकुमार की तरह बुद्धि सम्पन्न होना ही शोभा का कारण है। ४ पति प्रमा स्त्री लज्जा से शोभा पाती है। जो लज्जा रहित होकर अमर्यादित घूमती है लोक में वह नि कृतीय समझी जाती है। जिसकी आँख में लज्जा है वही कुलीन स्त्री है। सैकड़ों बुराइयां होने पर भी लज्जाशील व्यक्ति सुधार सकता है लेकिन लज्जा हीन व्यक्ति का सुधार असंभव है। इसलिये प्रत्येक पुरुष को बुरे कार्य करने में लज्जा करनी चाहिये। यही लज्जा पतिव्रता का भूषण है।

अपनी आत्मा ही शत्रु और मित्र होती है। इसको बताते हैं—

अप्पा अरी होइ अणवट्ठिअस्स
अप्पा जसो सीलमओ नरस्स।

अप्पा दुरप्पा अणवट्ठिअस्स,
अप्पा जिअप्पा सरणं गई य ॥ ११ ॥

छायानुवाद

अस्थिर जनकी आत्मा ही शत्रु कहाती।
है शीलवान नर की आत्मा [illegible] ॥

चंचल नर की आत्मा ही दुष्ट कहाती
है इन्द्रियजित आत्मा ही शरण कहाती ॥

शब्दार्थ—अणवट्ठिअस्स—अस्थिर [illegible] (अप्पा) आत्मा (अरी) शत्रु (होर) होती है। [illegible] (नरस्स) मनुष्य की (अप्पा) आत्मा [illegible] ([illegible]) [illegible] का कारण है। अणवट्ठिअस्स—अव्यवस्थित [illegible] (अप्पा) आत्मा ही (दुरप्पा) दुरात्मा है। [illegible] (अप्पा) आत्मा ही (सरणं) [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) गति है।

भावार्थ—अस्थिर चित्त [illegible] शत्रु होती है। शीलवान् मनुष्य की आत्मा ही [illegible] होती है। अव्यवस्थित मनुष्य की आत्मा [illegible] है। [illegible] की आत्मा ही शरण और [illegible] है।

विवेचन—मनुष्य का [illegible] मित्र या शत्रु नहीं है। किन्तु [illegible] मित्र और शत्रु होते हैं। [illegible] बतलाते हैं।

शत्रु—अनवस्थित आत्मा ही अपना शत्रु है। क्योंकि जिसके मन, वचन और काय योग स्थिर नहीं, उसके शत्रुओं की कमी नहीं रहती। रावण ने अपनी मानसिक चंचलता और परस्त्री गमन की भावना से ही सीता का हरण किया था। यदि उसने सीता का हरण नहीं किया होता तो उसे राम और लक्ष्मण क्यों मारते? इसलिये रावण को मारने वाले शत्रु राम लक्ष्मण नहीं, किन्तु वास्तविक में उसकी सीता हरण रूप दुर्भावना है।

यश—शीलवान् की आत्मा ही यश का कारण है। जिसमें सदाचार का बल है, उसको अपनी कीर्ति फैलाने के लिये लोगों में घोषणा करने की आवश्यकता नहीं होती और न पैसे खर्च कर नाम कमाने की ही इच्छा होती है। उसके पवित्र आचरण की सुवास से जनता स्वयं ही कीर्ति करने लगती है। से सुदर्शन ने इसी शील के गुण से संसार में अपना अमर नाम प्राप्त किया था।

दुष्ट—चंचल चित्त वाले की आत्मा ही दुष्ट आत्मा है। दुर्जनों के द्वारा होने वाला नाश उपायों से मिटाया जा सकता है। परन्तु अपने चित्त की चंचलता से होनेवाला नाश उभय लोक में दुखदायी होता है। इसलिये यही सच्चा दुरात्मा है।

शरण—वश में की गई अपनी आत्मा ही शरण और उत्तम गति का कारण है। शास्त्र में कहा है कि—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड-सामली।
अप्पा कामदुहा धेणु अप्पा मे नंदणं वणं॥

अर्थात्—अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी और नरक के शाल्मली वृक्ष के समान दुःख देने वाली है। आत्मा ही कामधेनु और नन्दन वन के समान सुख देनेवाली है। इसलिये दूसरे लोगों पर शत्रु और मित्र की कल्पना करना व्यर्थ है। अगर अपनी आत्मा को जीत लिया जाय तो संसार में अन्य शत्रु रहेंगे ही नहीं। इसीलिये कहा है कि जितेन्द्रियपन ही सच्चा शरण और सद्गति का कारण है।

कर्तव्याकर्तव्य क्या है? यह बताते हैं—

न धम्मकज्जा परमत्थिकज्जं,
ण पाणिहिंसा परमं अकज्जं।
न पेमरागो परमत्थि बंधो,
न बोहिलाभो परमत्थि लाभो ॥१२॥

छायानुवाद

है धर्म काम से बढ़कर काम न कोई।
प्राणीवध से बढ़कर कुकर्म नहीं कोइ॥
है स्नेह-राग सम बड़ा बंध नहीं दूजा।
है बोधिलाभ सा उत्तम लाभ न दूजा॥१२॥

शब्दार्थ—धम्म कज्जा—धर्म कार्य को छोड़ कर (पर) दूसरा (कज्जं) कार्य (ण अत्थि) नहीं है। पाणिहिंसा—जीव हिंसा से बढ़कर (परं) दूसरा (अकज्जं) अकार्य नहीं है। पेमरागोपर—प्रेम राग से बढ़कर दूसरा (बंधो) बंधन नहीं है। बोहिलाभो—बोधिलाभ के सिवाय (परं) दूसरा कोई (लाभो) लाभ (न अत्थि) नहीं है।

भावार्थ—धर्म कार्य को छोड़ कर दूसरा कार्य नहीं है। प्राणिवध से बढ़कर दूसरा कुकर्म नहीं है। स्नेह-बंधन से बढ़कर दूसरा बंधन नहीं और सम्यग्ज्ञान के बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है।

विवेचन—जितेन्द्रियपन धर्म का काम है। इसलिये इस गाथा में बताया गया है कि सबसे बड़ा काम कौनसा है?

कार्य—धर्म काम से बढ़कर अन्य कोई कार्य नहीं है। संसार के करणीय काम तो इस लोक में ही उपयोगी होते हैं, परन्तु धर्म इस लोक और परलोक दोनों में उपयोगी बनता है। अतः करने योग्य कामों में धर्म को बड़ा कहा है। भरत महाराज को जिस समय आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट होने की खबर मिली, जो कि चक्रवर्ती पद के लिये मंगल सूचक बात थी। उसी समय यह भी खबर मिली कि नगरी के बाहर भगवान् ऋषभदेव पधारे हैं। तब उन्होंने चक्ररत्न की खुशी न मना कर भगवान् ऋषभदेव को वंदन करने के लिये जाना ही उत्तम समझा। क्योंकि चक्ररत्न की पूजा के सामने भगवान् ऋषभदेव को वन्दन करना उन्होंने बड़ा समझा था। अकार्य—जीव हिंसा से बढ़कर कोई अकर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि हिंसा धर्म समाज और राज्य से निषिद्ध है। यह इस लोक में ही नहीं-परलोक में भी दुखदायी है। क्योंकि हिंसा करने में अन्य पापों का भी सहज ही सेवन हो जाता है। इसलिये जीव हिंसा जैसा दूसरा कोई अकर्तव्य नहीं है।

बंध—बंधन कई प्रकार के हैं। उनमें स्नेह-राग का बंधन से बड़ा है। स्नेह बंधन से बढ़कर कोई अन्य बंधन नहीं

है। क्योंकि लोहमय दृढ़ सांकल के बंधन तो मनुष्य तोड़ सकता है परन्तु स्नेह का बंधन तोड़ना कठिन है। राज्य वैभव का त्याग कर मुनि बने हुए भी आर्द्रकुमार मोहवश संयम से गिर गये और स्त्री के स्नेह भाव पर मुग्ध होकर ऐसी प्रतिज्ञा कर गये कि जब तक तुमको पुत्र का अवलम्बन नहीं होगा, मैं साधु नहीं बनूंगा। प्रतिज्ञा के अनुसार जब पुत्र हो गया तब आप साधु बनने को तैयार हो गये। उनकी स्त्री ने भी अपना सहारा ढूंढ निकाला। जब तक बालक योग्य न हो जाय तब तक उसने चरखा चलाना निश्चित किया। जब उनके पुत्र ने मां को चरखा चलाते देखा तो उसने अपनी मां से कहा-मां, तुम चरखा क्यों चलाती हो? क्या अपने यहां पैसे की कमी है? पिताजी के पुण्य से अपार धन मोजूद है। वर्षों तक बैठे २ खावें तब भी समाप्त न हो। फिर यह गरीबी का धन्धा क्यों कर रही हो। मां ने उत्तर दिया-बेटा-तुम अभी छोटे हो। खेल-कूद और पढ़ाई को ही अपना संसार समझते हो, परन्तु मुझे अपना संसार चलाने के लिये सबकुछ देखना पड़ता है। तुम्हारे पिता तो कल साधु होने वाले हैं। फिर मेरे जीवन का सहारा क्या होगा। अभी तो तुम्हारे पिताजी की सेवा से भी मेरा समय बीत जाता है, किन्तु उनके चले जाने पर मैं अपना समय कैसे बिताऊँगी? निकम्मी बैठी रहने से या इधर उधर फिरने से तो समय न निकल सकेगा। इसलिये मैंने सुख से अपना समय बिताने के लिये चरखे का सहारा लिया है। अब यही मेरी लज्जा रखने वाला है। पुत्र बोला-मां, क्या पिताजी हमको छोड़कर चले जायेंगे? नहीं, भला वे यहां से कैसे जा सकते हैं? मैं उन्हें नहीं जाने दूंगा। लो अभी उनको डोरी से बांध देता हूं। यह कहकर वह अपने पास में सोये हुए पिताजी को कच्चे सूत

से बांधने लगा। आद्रकुमार भी बालक की बात सुनकर चकित हो गये। वे मन में सोचने लगे कि बालक का मेरे पर कितना स्नेह है? जब इसकी ऐसी इच्छा है तो यह जितनी बार सूत से लपेटे, उतने वर्ष फिर घर में रह जाना चाहिये। बालक ने सूत के १२ लपेटे लगा दिये। उसके वे १२ कच्चे सूत के बंधन भी आद्रकुमार के लिये वज्रमय बन गये। इसीसे उनको फिर १२ वर्ष संसार में बिताने पड़े। इसलिये कहा है कि स्नेह बंधन सब बंधनों से बड़ा है।

लाभ—बोधि यानी सम्यक्त्व लाभ से बढ़कर संसार में कोई लाभ नहीं है। शास्त्र में कहा है—

लभंति विउला भोए, लभंति सुर संपया।
लभंति पुत्त मित्तंपि, एगो धम्मो सुदुल्लहो।

अर्थात्—संसार के विस्तीर्ण भोग जीव को कई बार मिले हैं। देवों की सम्पदा और पुत्र, मित्र आदि संबन्ध भी मिल सकते हैं। लेकिन एक धर्म यानी सम्यक् श्रद्धा रूप बोधि धर्म का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। निरन्तर ऐसे २ तप करके चारित्र की साधना करने वाला भी अभव्य जीव सम्यक्त्व नहीं पाने से संसार में भटका रहता है। नव ग्रैवेयक तक जाकर उसकी प्रगति रुक जाती है। दूसरी तरफ जिसको सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है, वह चारित्र के अभाव में भी संसार का अन्त कर लेता है। जैसा कि कहा है—

अंतो-मुहुत्त-मित्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढ पोग्गल-परियट्टो चेव संसारो।

अर्थात्—जिस जीव ने अन्तर्मुहूर्त जितने अल्प समय भी सम्यक्त्व का स्पर्श-लाभ कर लिया है, उसके लिये अर्ध पुद्गल परावर्त काल [redacted] संसार बाकी रहता है। यानी सम्यक्त्व पा लेने पर जीव की मुक्ति निश्चित हो जाती है। इसलिये सम्यक्त्व लाभ को ही सब लाभों से बड़ा कहा है।

किसका संसर्ग नहीं करना चाहिये—

न सेवियव्वा पमया परक्का,
ण सेवियव्वा पुरिसा अविज्जा।
न सेवियव्वा अहमा न हीणा,
न सेवियव्वा पिसुणा मणुस्सा॥१३॥

छायानुवाद

है परनारी नहीं सेवन करने लायक।
नहीं मूर्ख पुरुष भी संगति करने लायक।
नहीं नीच हीन नर सेवा के हैं लायक।
यों चुगलखोर भी नहीं संग के लायक।।१३।

शब्दार्थ—परक्का—दूसरों की (पमया) स्त्री का (न सेवियव्वा) सेवन नहीं करना चाहिये। अविज्जा—मूर्ख (पुरिसा) पुरुष भी (न सेवियव्वा) संसर्ग करने लायक नहीं हैं। अहमा-अधम-नीच मनुष्य और (हीणा) हीन मनुष्य भी (न सेवियव्वा) सेवा योग्य नहीं हैं। तथा (पिसुणा) चुगल खोर (मणुस्सा) मनुष्य भी (न सेवियव्वा) संगति करने योग्य नहीं है।

भावार्थ—पर स्त्री का सेवन नहीं करना चाहिये। मूर्ख मनुष्य संसर्ग के लायक नहीं है। नीच और हीन मनुष्य तथा चुगलखोर आदमी भी संगति करने योग्य नहीं है।

विवेचन—सम्यक्त्व की प्राप्ति से यह ज्ञात होता है कि वास्तव में हेय और उपादेय क्या है। इसलिये यहां जिनका संसर्ग हेय होने से नहीं करना चाहिये उनका परिचय कराते हैं। १ पर स्त्री का सेवन नहीं करना चाहिये। संसार की शांति सुरक्षित रखने के लिए भी यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी वस्तुओं पर ही सन्तोष करे। दूसरों की सुन्दर चीजें देखकर भी उन्हें ग्रहण करना नहीं चाहें। आज तक संसार में जितने भी युद्ध हुये हैं सब धन दारा और भूमि के कारण ही हुए हैं। जिन पर कि एक दूसरे की बुद्धि बिगड़ जाती है। इसलिये नीतिकारों ने कहा है कि—

परान्न पर वस्त्र च, पर शय्या परस्त्रियं।
पर वेश्मनि वास च, दूरतः परिवर्जयेत्।

दूसरों के अन्न, वस्त्र, शय्या और स्त्री तथा पर घर में निवास य सब बुद्धिमान को दूर से ही छोड़ देने चाहिये। क्योंकि रावण और पद्मोत्तर जैसे राजाओं ने इसी पर-स्त्रीगमन की भावना से अपने प्राण एव राज्य गमा दिये थे। यह इस लोक की तरह यह परलोक में भी दुर्गति का कारण होता है। इसलिये बुद्धिमान को भूलकर भी पर स्त्री का सेवन नहीं करना चाहिये। २ पर-स्त्री गमन आदि कुकर्मों की भावना कुसंगति से होती है। इसलिए कहा है कि मूर्ख या असद्ज्ञान वाले की संगति नहीं करनी चाहिये। कहावत है कि— ज्ञान घटे नर मूढ की संगत" मूर्खों की संगति से ज्ञान घटता है।

३ मूर्खों की तरह नीच मनुष्य भी संगति करने योग्य नहीं है। जिनको धर्म अधर्म का विचार नहीं होता वे नीच कहाते हैं। उनकी संगति से सज्जन भी मलिन हो जाता है। धर्मराज युधिष्ठिर यदि दुर्योधन की संगति नहीं करते तो जूए में राज्य गवाने का समय नहीं आता। यह कुसंगति का ही फल है। इसलिये नीति कहती है कि—

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिनाभूषितः सर्पः, किमसौ न भयंकरः ।

अर्थात्—दुर्जन विद्या से युक्त हो तो भी त्यागने योग्य है। क्या मणि से भूषित होने के कारण सर्प की भयंकरता चली जाती है? नहीं। इसी प्रकार विद्यावान भी दुर्जन, दुर्जन ही रहता है। अतः त्याज्य है।

४ दुर्जन चुगलखोर भी होते हैं। इसलिये कहा है कि पिशुन यानी चुगलखोर का भी संग नहीं करना चाहिये। चुगलखोरों के वचन जैसे मीठे होते हैं वैसे ही उनके काम भयंकर होते हैं। नीति में उनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

नालिकेर समाकारा दृश्यन्ते केऽपि सज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाकारा, बहिरेव मनोरमाः ।

अर्थात्—नारियल के समान बाहिर से कठिन स्वभाव वाले कई सज्जन होते हैं, लेकिन दूसरे दुर्जन बोर (बेरफल) के समान ऊपर से ही मनोरम होते हैं भीतर तो कठोरता भरी रहती है। दुर्जन का स्वभाव होता है कि वह दूसरों के छोटे से छिद्र को तो देख लेता है, परन्तु अपने बड़े छिद्र को नहीं देखता। इसीलिये कहा है—

खल सर्वत मात्राणि, परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यतोऽपि न पश्यति ।
अतएव-परोक्षे कार्य-हन्तारं, प्रत्यक्षे प्रिय वादिनम् ।
वर्जयेत्तादृश मित्र विषकुम्भ पयो-मुखम् ।

प्रत्यक्ष में मधुर बोलने वाले और परोक्ष में काम बिगाड़ने वाले मित्र का भी त्याग कर देना चाहिये—

कुसगति का निषेध करके अब सुसगति का विधान करते हैं—

जे धम्मिया ते खलु सेवियव्वा,
जे पडिया ते खलु पुच्छियव्वा ।
जे साहुणो ते अभिवंदियव्वा,
जे निम्ममा ते पडिलाभियव्वा ।१४।

छायानुवाद

जो धार्मिक हैं वे सेवा करने लायक ।
जो पंडित हैं वे सब पूछने लायक ।
जो साधु हैं वे वन्दन करने लायक ।
जो निमम अरु हैं वही दान के लायक ।

शब्दार्थ—जे धम्मिया—जो धार्मिक मनुष्य हैं (ते) वे (खलु) निश्चय से (सेवियव्वा) सेवा के योग्य है। जे पडिया-जो पंडित हैं वे निश्चय से (पुच्छियव्वा) पूछने योग्य हैं। जे साहुणो—जो साधु हैं वे अवश्य (अभिवदियव्वा) नमस्कार योग्य हैं। जे निम्ममा-जो निर्मम हैं वे (पडिलाभियव्वा) पारमार्थिक दान के सुपात्र हैं।

भावार्थ—जो धार्मिक पुरुष हैं वे सेवा के योग्य हैं। जो पंडितजन हैं वे अवश्य तात्विक विषय में पूछने योग्य हैं। जो सन्त महात्मा हैं वे अवश्य वन्दनीय हैं। और जो निर्मम-ममता रहित हैं वे ही पारमार्थिक दान के सुपात्र हैं।

विवेचन—१ जो धार्मिक पुरुष हैं वे सेवा करने योग्य हैं। क्योंकि धार्मिक पुरुषों की संगति से धर्म भावना का संचार होता है। बड़े २ पापी भी धार्मिक पुरुषों की संगति से सुधर गये हैं। अर्जुनमाली जैसा प्रतिदिन ६ पुरुष और १ स्त्री की हत्या करने वाला भी भक्त सुदर्शन की संगति से तिर गया और भगवान की कृपा को पाकर उसी भव में मोक्ष चला गया। इसलिये धार्मिक पुरुषों की सेवा करनी चाहिये।

२ जो तत्वज्ञ हैं उनसे तत्त्वज्ञान के प्रश्न पूछने चाहिये। पंडित वे हैं जो ज्ञान के साथ क्रियावान हैं।' ऐसे पंडितों की सेवा से ही मन के संशय मिटते हैं। राजा प्रदेशी जैसा पूरा नास्तिक, जो शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानता था। वह भी केशीश्रमण जैसे पंडित मुनि की सेवा से आस्तिक हो गया। उसने केशीश्रमण से अपना संशय मिटाया और फिर राज्य का मोह छोड़ कर कठिन तप करना स्वीकार किया। फल स्वरूप दुर्गति में जानेवाली उसकी आत्मा स्वर्ग में गई। यह पंडितों की सेवा का ही परिणाम है। ऐसे ही सुखदेव संन्यासी ने थावच्चा पुत्र से प्रश्न पूछ कर अपना संशय दूर किया था। इसलिये पंडितों से विनय पूर्वक पूछ पूछना चाहिये।

३ जो सन्त पुरुष हैं उनके सम्मुख जाकर वंदन

चाहिये। क्योंकि ये ही सच्चे पंडित हैं। साधु जनों के वन्दन से कर्मों की महान् निर्जरा होती है। वन्दन करने वाला जीव नीचगोत्र का क्षय करके उच्च गोत्र का बंध करता है। शास्त्र में कहा है—

'वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं चणं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ।' वन्दन से जीव नीच गोत्र का क्षय करके उच्चगोत्र का बंध करता है। उससे अप्रतिहत सौभाग्य और अखंड आज्ञा की प्राप्ति होती है। कहावत भी है—

सन्तन की सेवा किये, प्रभु रीझत हैं आप।
जिनके बाल रमाइये, उनके रीझत बाप।

इसलिये साधुओं के सन्मुख जाकर वन्दना करनी चाहिये।

४ जो ममता रहित निर्लोभी हैं वे प्रतिलाभ देने योग्य हैं। सत्पुरुषों को आहार आदि देने से दाता को महान् लाभ प्राप्त होता है। इसलिये इनको प्रतिलाभ कहा है। संगम ग्वाले ने बड़ी इच्छा से खीर बनवाई थी। लेकिन जिस समय वह खाने को बैठा, उस समय उसकी यह इच्छा हुई कि कोई महात्मा आजाय और उनको कुछ देकर खाऊँ तो अच्छा। पुण्योदय से उसके यहाँ महात्मा पधार गये। उसने बड़े प्रेम से उनको खीर का दान दिया। थाल खाली हो जाने पर भी इसको दुःख नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप उसको शालिभद्र की ऋद्धि प्राप्त हुई। इस प्रकार संगम की पुण्य वृद्धि का कारण सत्पात्र का दान ही समझना चाहिये।

दान की श्रेष्ठता का प्रधान कारण भाव है। इसलिये अब भाव की अपेक्षा से यह भी समानता दिखाते हैं—

पुत्ता य सीसा य सम विभत्ता,
रिसीय देवा य सम विभत्ता।
मुक्खा तिरिक्खा य सम विभत्ता,
मुया दरिद्दाय सम विभत्ता ॥१५॥

छायानुवाद

है शिष्य और सुत दोनों ही सम जानो।
मुनि होते देव समान बात यह मानो।
है मूर्ख मनुज को पशु तुल्य बतलाया।
मृत और दीन जन को है सम समझाया।

शब्दार्थ—पुत्ता-पुत्र (य) और (सीसा य) शिष्य (सम विभत्ता) समान श्रेणीवाले हैं। रिसी य-ऋषि और (देवा) देव (समविभत्ता) समान होते हैं। मुक्खा—मूर्ख और (तिरिक्खा) तिर्यंच समान हैं। मुआ-मरा हुआ और (दरिद्दाय) दरिद्र (सम विभत्ता) समान समझे जाते हैं।

भावार्थ—पुत्र और, शिष्य, ऋषि और देव, मूर्ख और तिर्यंच, तथा मरा हुआ और दरिद्र समान श्रेणी वाले हैं।

विवेचन—पुत्र और शिष्य समान गिने गये हैं। शास्त्र में दस प्रकार के पुत्र कहे हैं। जिसमें "धम्म न्तेवासी" अन्तेवासी यानी शिष्य का भी नम्बर आता है। एक का संबंध शरीर के अंग से और दूसरे का ज्ञान से है। दोनों ही विनय से सुख पाते हैं। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य, *ज्ञान* और सत्कार

से उत्पन्न होता है। यहां जन्म देने वाला शरीर का पिता और शिक्षा से संस्कार देनेवाला आत्मा का पिता है। इसलिये पुत्र और शिष्य समान कहे गये हैं। ऐसे ही ऋषि मुनि और देव समान कहे गये हैं। देव विमान आदि द्रव्य ऋद्धि वाले होते हैं और मुनि भाव ऋद्धि वाले। सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप को देखने के लिये एक देव ने बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाया और सिर पर गठरी लिये हुए चक्रवर्ती के यहां पहुँचा। उसने द्वारपाल से कहा कि भाई मुझे महाराज के दर्शन करने हैं। अगर तुम करा दो तो बड़ी कृपा हो। इस बुढ़ापे में जिन्दगी का क्या भरोसा है ? न जाने कब सांस निकल जाय। इसलिये मेरी प्रबल इच्छा है कि मैं मरने से पहले एक बार महाराज के दर्शन कर लूं। फिर मर भी गया तो कोई चिन्ता की बात नहीं। द्वारपाल ने जाकर महाराज से निवेदन किया। किन्तु उस समय स्नान का समय था इसलिये महाराज ने बूढ़े को बुलाकर कहा कि यदि तुझे मेरा रूप ही देखना है तो फिर राजसभा में आकर देखना। अभी तो मुझे स्नानादि से निवृत्त होना है। बूढ़ा उन्हें देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। राज सभा के समय उसको फिर याद किया गया। लेकिन इस समय चक्रवर्ती को अहंकार आ चुका था। जब उन्होंने बूढ़े से पूछा कि कहो रूप कैसा है ? तब बूढ़े ने सिर घुमाकर कहा—महाराज ! शरीर में तो कीड़े पड़ गये हैं। चक्रवर्ती को शरीर की इस नश्वरता से वैराग्य हो गया। और वे राज्य छोड़कर साधु बन गये। कुछ दिनों बाद वही देव वैद्य का रूप बनाकर आया और दवा लो दवा, यह कहते हुए मुनि के पास से निकला। महाराज ने पूछा—भाई, तुम अपनी दवा से कौनसा रोग मिटाते हो ? क्या जन्म मरण का रोग भी मिटाते हो ? देव

कहा—नहीं महाराज मैं तो शरीर के रोग मिटाता हूँ। जन्म मरण रोग मिटाना मेरी शक्ति से परे है। महाराज ने कहा—अरे, इसमें क्या है? शरीर का रोग तो जरा सा थूक लगाने से ही मिटाया जा सकता है। ऐसा कहकर मुनि ने थूक की एक अंगुली अपने शरीर पर लगाई और देव से पूछा—कहो अब रोग कहां है? देव मुनि के अलौकिक तपोबल को देख कर चकित हो गया और नमस्कार करके चला गया। मुनि के तपोबल ने देवता को भी लज्जित कर दिया। इसलिये देव और ऋषि को समान कहा है।

३ मूर्ख और तिर्यंच समान हैं। क्योंकि विवेक से शून्य होने के कारण मूर्ख भी पशु के तुल्य है। वह आकारमात्र से ही मनुष्य है। नीति में कहा है कि—ज्ञानेन हीना पशुभि समाना अर्थात् ज्ञान-हीन मनुष्य पशु के समान है। इसलिये मूर्ख और पशु समान कहे गये हैं।

४ मृत और दरिद्र समान है। क्योंकि जीता हुआ भी साधन हीन होने से दरिद्र कुछ नहीं कर पाता है। जिन्दा भी मरे हुए के समान होता है। इसलिये मृत और दरिद्र को समान कहे गये हैं।

धर्म की सर्व श्रेष्टता दिखाते हैं—

सव्वा कला धम्मकला जिणाइ,
सव्वा कहा धम्म-कहा जिणाइ।
सव्वं बलं धम्म बलं जिणाइ,
सव्वं सुहं धम्म सुहं जिणाइ।१६।

छायानुवाद

ज्यों सभी कला में धर्म कला विजयी है ।
त्यों सभी कथा में धर्म कथा विजयी है ।
सब बल को जीते एक धर्म बल सदा ।
सब सुख में सुख है एक धर्म का सदा ।।१६।।

शब्दार्थ—सव्वाकला—सब कलाओं को (धम्मकला) धर्म कला (जिणाइ) जीत लेती है। सव्वाकहा—सभी कथाओं में (धम्म कहा जिणाइ) धर्मकथा प्रधान है। सव्व बल-सभी भौतिक बल को (धम्मबल) धर्म बल जीतता है। धम्मसुह-धर्म से होने वाला सुख (स व सुह जिणाइ) सब भौतिक सुखों को जीतता है।

भावार्थ—संसार की सभी कलायें धर्म कला के सामने नगण्य हैं। संसार की सभी कथाओं में धर्मकथा प्रधान है। संसार के भौतिक बलों पर धर्म बल विजय पाता है। धर्म से होने वाला आत्मिक सुख के सामने अन्य पौद्‌गलिक सुख तुच्छ है।

विवेचन—१ कला-धर्मकला सब कलाओं को जीतने वाली है। संसार की ७२ कलाएं धर्मकला के बिना निस्सार हैं। क्योंकि सब कलाओं का जानकार भी धर्मकला के बिना संसार से पार नहीं हो पाता। कहा भी है—

सकलाऽपि कला कलावतां, विकलाधर्म कला बिना खलु।
सकले नयन वृथा यथा तनुभाजां हि कनीनिका बिना।

इसलिये कहा है कि—

कला बोहत्तर पुरुष की, जिणमें दो सरदार।
एक जीव आजीवका, एक जीव उद्धार।

२ कथा—स्त्री-कथा भक्त-कथा, राज-कथा और देश कथा ये संसार में चार कथायें प्रसिद्ध हैं। धर्म-कथा उन सब कथाओं को जीतने वाली हैं।

३ बल-धर्म बल सब बलों में उत्तम है। संसार के धनबल जनबल और शस्त्रबल जहाँ बेकार होते हैं वहाँ धर्मबल समर्थ रहता है। नीति भी कहती है कि—

> वन जने शत्रु जलाग्नि मध्ये,
> महार्णवे पर्वत मस्तके वा।
> सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
> रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि।

अर्थात्—वन में या लोगों में, शत्रु जल तथा अग्नि में, महासमुद्र या पर्वत के शिखर पर सोये हुए, प्रमत्त बने हुए या विषम स्थान पर पड़े हुए प्राणी की पूर्वजन्म के पुण्य ही रक्षा करते हैं। इसलिये सब बलों में धर्मबल ही श्रेष्ठ है।

४ सुख—संसार के सब सुखों को धर्म सुख जीतता है। क्योंकि संसार के सुख पौद्गलिक होने से नाशवान हैं, और धर्म का सुख आत्मिक होने से अविनाशी है। जैसा कि कहा है—सुहाइं संतोस साराइं' संतोष सुखों का सार है, जो धर्मरूप है। इसलिये कहा है कि सब सुखों में धर्म सुख बड़ा है।

सात व्यसनों से होने वाले दुष्परिणाम को अब दो गाथाओं में बताते हैं—

> जूए पसत्तस्स धणस्स नासो,
> मंसे पसत्तस्स दयाए नासो।

मज्जे पमत्तस्स जसस्स णासो,
वेस्सा पसत्तस्स कुलस्स नासो ।१७।

छायानुवाद

जूआरी अपना द्रव्य सभी खोता है।
जो मांसभक्षी यह दया विमुख होता है।
मदिरा प्रेमी अपना यश खो देता है।
वैश्यागामी का वंश नाश होता है ॥१७॥

शब्दार्थ—जूए पमत्तस्स-जूए के व्यसनी को (धणस्स) धन का (नासो) नाश होता है। मंसे पसत्तस्स—मांस भक्षण करने वाले की (दयाए नासो) दया का नाश होता है। मज्जे पसत्तस्स-मद्य के नशे में आसक्त रहने वाले के (जसस्सनासो) यश का नाश होता है। वेस्सापसत्तस्स—वेश्या-लम्पट के (कुलस्सनासो) कुल का नाश होता है।

भावार्थ—जूए के व्यसनी का धन नष्ट होता है। मांस भक्षी के हृदय में दया नहीं रहती है। मद्य के नशे में आसक्त रहने वाले का यश नष्ट हो जाता है। तथा वेश्यागामी के कुल का नाश होता है।

विवेचन—धार्मिक पुरुष व्यसनों से दूर रहते हैं। इसलिये यहां व्यसनों से होने वाला दुष्परिणाम दिखाते हैं—

१ द्यूत—जूआ खेलने से धन का नाश होता है। दुनिया के लोगों की सदा यह इच्छा रहती है कि किसी तरह धन संचय किया जाय। धनी हो या गरीब दोनों ही इसके लिये उद्यत रहते हैं। जब उनको यह मालूम होता है कि बिना

उद्योग धन्धे के ही अमुक व्यक्ति ने मेल ही खेल में हजारों रुपये कमा लिये, तो उनकी लालसा और भी प्रबल हो जाती है। वे भी उस खेल में जिसको जूआ कहते हैं, बाजी मारने लगते हैं। जूआ में यदि कभी बाजी जीत गये तब तो इच्छा होती है कि दूसरी बार फिर और लगावें। अगर हार गये तो इच्छा होती है कि खोये हुए रुपये को प्राप्त करलें। अन्यथा लोगों को क्या मुँह दिखायेंगे? इस प्रकार दोनों हालत में जुआरी को उस फन्द से फिर निकलना कठिन हो जाता है। आज भी आप सट्टे वालों से इसका पूरा अनुभव ले सकते हैं। सैकड़ों को बरबाद होते देख कर भी लोग इसमें फसे जा रहे हैं। उनको याद रखना चाहिये कि पूर्व समय में धर्मात्मा युधिष्ठिर और राजा नल जैसे भूपति इसी जूए में अपना राज्य खो बैठे थे। आज भी इस जूएके कारण अनेकों श्रीमंतों को अपने प्राण त्यागने पड़े हैं। वास्तव में यह लक्ष्मी और कीर्ति दोनों का नाश करने वाला है।

२ मांस—मांस ग्रहण करने वाले की दया नष्ट हो जाती है। क्योंकि प्राणियों की हिंसा के बिना मांस की प्राप्ति नहीं होती, और हिंसा करने में दया बुद्धि नहीं रहती। जैसा कि स्मृतिकार ने कहा है—[illegible]

> ना कृत्वा प्राणिनां हिंसा, मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
> न च प्राणिवधः स्वर्ग्य-स्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्।

प्राणिवध के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती है। प्राणिवध निंद्य कार्य है, इसलिये मांस का त्याग करना चाहिये। देखिये और भी कहते हैं—

न ग्राह्यानि न देयानि, षड वस्तूनीह पंडितैः ।
अग्निमधु विष शस्त्र, मद्य मांस तथैव च।

अर्थात्—विद्वानों को संसार में छह वस्तुओं का दान और ग्रहण नहीं करना चाहिये। जैसे—१ अग्नि, २ मधु, ३ विष, ४ शस्त्र, ५ मद्य और ६ मांस।

३ मद्य—मद्यपान करने वाले के यश का नाश होता है। क्योंकि मद्य बुद्धि का नाश करता है। जिसकी बुद्धि मलिन हो उसको भला कीर्ति कैसे मिल सकती है ! इसलिये कहा है कि मद्य-शराब कीर्ति का नाश करता है।

४—वेश्यागामी का कुल नष्ट होता है। क्योंकि वैश्यावृत्ति वाले का चित्त सदा अपने घर से विरक्त रहता है। उसका प्रेम अपनी विवाहिता स्त्री के साथ नहीं होता। इसलिये कुल वृद्धि में कारणभूत संतान की प्राप्ति भी नहीं होती है। इस प्रकार यश नाश ही नहीं वेश्यागामी के तन और धन का भी नाश होता है। जगत में उसकी अकीर्ति फैलती है। इसलिये समझदार को वेश्यागमन नहीं करना चाहिये।

हिंसा-पसत्तस्स सुधम्मनासो,
चोरी-पसत्तस्स सरीरनासो।
तहा परत्थीसु पसत्तयस्स,
सव्वस्स नासो अहमा गई य।

छायानुवाद

हिंसा करने से धर्मनाश होता है।
चोरी करने से तन बल सब घटता है।

परदारा गामी तन धन सब खोता है।
कुल धर्म छोड़ गति नीच प्राप्त होता है।

शब्दार्थ—हिंसापसत्तस्स—हिंसा करने वाले के (सुधम्म-नासो) सुधर्म का नाश होता है। चोरीपसत्तस्स—चोरी करने वाले का (सरीरनासो) शरीर नाश होता है। तहा-वैसे (परत्थीतु) पर स्त्री में आसक्त रहने वाले का (सव्वस्सनासो) सब कुछ नाश हो जाता है और वे नीच गति को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—इस गाथा में शिकार करना, चोरी करना और पर स्त्री गमन करना आदि दुर्व्यसनों का कटु फल बताया गया है।

५—शिकार करने वाला हिंसा की रसिकता से दया रूप सद्धर्म का नाश करता है। इसलिये कहा है कि हिंसा रसिक मनुष्य के धर्म का नाश होता है। धर्म के नाश होने पर सुगति का नाश तो अवश्यम्भावी है ही।

६—चोरी करने वाला इधर उधर जंगलों में बचाव के लिये फिरता रहता है। वोह किसी नियत स्थान पर सुख से नहीं रह पाता। उसको भूख, प्यास और सर्दी-गर्मी के विविध कष्ट भी सहने पड़ते हैं। अगर कहीं वह पकड़ा गया तो तन धन और कान्ति से भी उसे हाथ धोना पड़ता है। जेलों की कठिन यातनाएं सहनी पड़ती हैं। इसलिये कहा है कि चोरी करने वाले के शरीर का नाश होता है।

७—परस्त्री गमन सातवां व्यसन है। इसके कारण बड़े २

पुरुष भी बरबाद हो चुके हैं। आज भी ऐसे अनेकों उदाहरण
देखन में आते हैं, जिन्होंने पर स्त्री में आसक्त बन कर अपने
राज्य तक को खो दिया। प्राचीन समय का उदाहरण है कि
पद्मोत्तर राजा अपने अन्तःपुर में अनेकों रानियों के होते
हुए भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह द्रौपदी की सुन्दरता सुनकर
उस पर मुग्ध बन गया, और देव शक्ति से द्रौपदी को अपने
महल में मंगवा ली। परिणाम यह हुआ कि द्रौपदी की खोज
करते हुए श्रीकृष्ण पाण्डवों को साथ लिए हुए वहां आ पहुँचे।
उन्होंने पद्मोत्तर से यह कहला भेजा कि या तो युद्ध के लिए
तैयार हो जाओ या द्रौपदी को हमारे सुपुर्द करो। पद्मोत्तर
अपनी शक्ति के अभिमान से उनके साथ युद्ध करना शुरू
किया। कुछ ही समय में उसने पाण्डवों को परास्त कर दिया।
तब श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध भूमि में पहुंचे। उनके धनुष की टंकार
ही सेना तितर बितर होने लगी और स्वयं पद्मोत्तर राजा भी
नगर में छिप गया। जब कृष्ण ने भूमि पर जोर से पांव गिराया
तो उसके आघात से नगरी के कोट कांगरे गिरने लगे। तब
पद्मोत्तर ने समझ लिया कि अब कोई शरण नहीं है। तत्काल
ही वह द्रौपदी के चरणों में आकर गिरा और क्षमा मांगने
लगा। महासती ने भी दया बुद्धि से उसे सान्त्वना दी और
कहा कि अब भी तुम अपनी रानियों सहित श्रीकृष्ण के
चरणों में अपना सिर झुका दो। प्रभु शरणागत के पालक हैं
अतः निश्चय ही तुम्हें क्षमा कर देंगे। पद्मोत्तर ने सती के
आदेशानुसार श्रीकृष्ण के चरणों में गिरकर क्षमा मांगी। श्री
कृष्ण ने उसे क्षमा कर दिया। किन्तु जब वहां के वासुदेव को
इसका पता लगा तब उसने पद्मोत्तर को राज्य से अलग कर
दिया। इसलिये कहा है कि पर स्त्री में आसक्त पुरुष

सर्वनाश होता है। वह मरकर भी दुर्गति को प्राप्त होता है। यहा सप्त व्यसनों से होने वाली प्रमुख हानियां ही बताई हैं। इसी तरह अन्य भी बुद्धिमान को समझ लेनी चाहिये। प्रत्येक व्यसन इस लोक की तरह परलोक में भी दुर्गति का कारण बनता है। अतः व्यसन मात्र से बचे रहना ही हित का कारण है।

किसको क्या कठिन है—

दाणं दरिद्दस्स पहुस्स खंती,
इच्छा निरोहो य सुहोइयस्स।
ताहण्णए इंदिय-निग्गहो य,
चत्तारि एयाइ (णि) सुदुक्कराणि ॥१६॥

छायानुवाद

देना दरिद्र का दान महा दुष्कर है।
सामर्थ्य शाल को शान्ति भाव दुष्कर है।
वैभवशाली का इच्छा-संयम दुष्कर।
यौवन में करना इन्द्रियवश अति दुष्कर

शब्दार्थ—दरिद्दस्स–दरिद्र को (दाणं) दान देना (पहुस्स) समर्थ पुरुष को (खंति) क्षमा रखना (य) और (सुहोइयस्स) सुखोपभोग्य सामग्री वाले को (इच्छानिरोहो) इच्छा का निरोध करना और (ताहण्णए) युवावस्था में (इंदिय निग्गहो) इन्द्रियों का संयम रखना (एयाणि) ये (चत्तारि) चारों (सुदुक्कराणि) अत्यन्त कठिन है।

भावार्थ—दरिद्र को दान देना, समर्थ पुरुष को क्षमा रखना,

सुख योग्य सामग्री सम्पन्न पुरुष को इच्छा-निरोध करना और युवावस्था में इन्द्रिय दमन करना अत्यन्त कठिन है।

विवेचन—व्यसनों का त्यागी ही दान आदि धार्मिक अंगों का पालन करता है। इसलिए यहां कौन अंग किसको कठिन है? यह बताते हैं।

१ दान—दरिद्र का दान करना कठिन है। लाखों की सम्पत्ति वाला यदि हजारों का दान करदे तो यह कठिन नहीं है। परन्तु जो मजदूरी करके अपना निर्वाह करता है, वह अपनी रोटी में से दूसरों का दान करे यह कठिन है। शास्त्र में कहा है—

'तहा रूव समणं वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयति? जीविय चयइ, दुच्चयं चयति, दुक्करं करति' भगवती श० ७। तथा प्रकार के श्रमण को यावत् दान करता हुआ क्या छोड़ता है?

उ०—'गौतम! वह जीवन के आधार को त्यागता है, कठिन त्याग करता है और दुष्कर करता है।' पुराणों में कहा गया है कि युधिष्ठिर ने विश्वजित यज्ञ करके करोड़ों का धन दिया और सब की आशा पूर्ण की। फिर भी उनकी यज्ञशाला में नवले का शरीर सोने का नहीं हुआ। जबकि एक सेठ के अपने जीवन की परवाह न करके दिये हुए मतीरे के जूठन में उसका मुँह सोने का हो गया। इसका कारण है अहंकार रहित दरिद्रावस्था का दान।

२ क्षमा—समर्थ पुरुष को क्षमा रखना कठिन है। जिसका राज्य और समाज में मान है, तथा जो श्रीपति है उसको किसी के अपमान करने पर सहन कर लेना जितना कठिन है, उतना लाखों का दान करना नहीं।

इच्छा निरोध—सामग्री सम्पन्न पुरुष के लिये इच्छा का निरोध करना कठिन है। जो साधन रहित होने से इच्छा का निरोध करे, इसमें क्या विशेषता है? विशेषता तो तब होती है कि सामग्री सम्पन्न होने पर भी अपनी इच्छाओं को रोके। शास्त्र में कहा है कि—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, सेहु चाइत्ति वुच्चई।

अर्थात्—जो कान्त और प्रिय भोगों के मिलने पर पीठ करता है और स्वाधीन भोगों को छोड़ता है वही सच्चा त्यागी है। सामग्री के अभाव में भोगों से दूर रहना त्याग नहीं, विवशता है। जैसा कि तुलसीदासजी ने उपहास करते हुए कहा है—

नारि मरी गृह सम्पति नासी।
मूंड मुड़ाय भये सन्यासी।
ते सज्जन सग पाव पुजावहि।
उभय लोक निज हाथ नसावहि।

वास्तव में सामग्री सम्पन्न पुरुष का इच्छा दमन करना कठिन है।

४—इन्द्रिय निग्रह-जवानी में इन्द्रियों को वश में करना अत्यन्त कठिन है। जब इन्द्रिय बल क्षीण हो जाने पर भी वृद्धावस्था में पुरुषों को काम भोग छोड़ना कठिन लगते हैं, तब भर यौवन में इन्द्रियों का वश में कर लेना कितना कठिन है? ... सहज ही अनुमान हो सकता है। इस प्रकार इन्द्रि

में दान, समर्थ को क्षमा, साधन-सम्पन्न को इच्छानिरोध और जवानी में इन्द्रियों को वश करना ये चार काम अत्यन्त कठिन बताये गये हैं। परन्तु ज्ञान और भक्ति का बल जिनमें होता है वे इन कठिन कार्यों को भी सरल कर दिखाते हैं। सगम ग्वाले का गरीबी में दान और समर्थ महावीर की क्षमा इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। महावीर के कानों में ग्वाले ने कीलें ठोकदी थी परन्तु प्रभु ने समर्थ होकर भी उसको सहन किया। वे कमजोर नहीं थे, लेकिन उन्हें क्षमा का पालन करना था। यह है क्षमा का आदर्श। शालिभद्र ने सामग्री सम्पन्न होने पर भी अपनी इच्छा का निरोध किया था। उन्होंने अपार सम्पत्ति और ३२ स्त्रियों का मोह छोड़ दिया। जो भोगियों में बड़े समझे जाते थे वे त्यागियों में बड़े त्यागी और योगियों में बड़े योगी बन गये। ऐसे ही जम्बू कुमार ने भी यौवन वय में ८ स्त्रियों को त्याग कर संयम स्वीकार किया था। विवाहित होकर भी उन्होंने भोग मार्ग में प्रवेश नहीं किया था। इस अनुपम विरक्ति से आकर्षित हो उनके साथ ५०७ जनों ने भी संयम स्वीकार किया था।

अब उपसंहार में धर्म का उपदेश करते हैं—

असासयं जीवियमाहु लोए,
धम्मं चरे साहु जिणोवइट्ठं।
धम्मो य ताणं सरणं गई य
धम्मं निसेवित्तु सुहं लहंति ॥२०॥

छायानुवाद

ज्ञानी ने जग जीवन चचल बतलाया।
जिनराज कथित सद्धर्म करो जतलाया।

है, धर्म शरण अरु रक्षक शुभगतिदाता।
जो करे धर्म-का सेवा वह सुखपाता॥२०॥

शब्दार्थ—ज्ञानीपुरुष (लोए) संसार में (जीविय अर्सासयं) जीवन को अशाश्वत (आहु) कहते हैं। इसलिये (साहु भिणो यह्) सन्त पुरुषों से कहे हुए (धम्म) धर्म का (चरे) आचरण करो। क्योंकि (धम्मोय) धर्म ही (ताण सरण) त्राण रक्षक (य) और (गइ) शाश्वत गति का कारण है। (धम्म निसेवित्तु)-धर्म को सेवन करके जीव (सुह) सुख को (लहंति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानीजन इस संसार में जीवन को अस्थिर कहते हैं। इसलिये सन्त पुरुषों से कहे हुए धर्म का आचरण करना चाहिये। क्योंकि धर्म ही मनुष्य का रक्षक और अविचल गति का कारण है। धर्म को सेवन करके जीव सच्चे सुख को प्राप्त करता है।

विवेचन—जीवन की अस्थिरता और धर्म की महिमा समझे बिना कठिन साधना में प्रवेश नहीं होता। इसलिये यहां जीवन की चंचलता दिखा कर धर्म का उपदेश करते हैं।

शास्त्रों में कहा है कि संसार में मनुष्य का जीवन अस्थिर है। अंजलि के जल की तरह मनुष्य का जीवन बूंद २ होकर घटता रहता है। जैसा कि कहा है—

> चला लक्ष्मी चला प्राणा, चले जीवितयौवने।
> चलाचलेति संसारे, धर्म एक सुनिश्चलः।

अर्थात्—लक्ष्मी और प्राण चंचल हैं। जीवन और यौवन

भी चञ्चल है। ऐसे अस्थिर संसार में एक धर्म ही स्थि
संसार के दृश्यमान सभी पदार्थ अस्थिर और नश्वर
एक धर्म ही अविनाशी है। कहावत प्रसिद्ध है—

> गढ़ रहे न गढ़पति रहे, रहे न सकल जहान।
> शेष रहे 'नृप नाम' कहे, नेकी बदी निशान।

इसलिये जीवन को चञ्चल समझ कर वीतराग
सत्य धर्म का आचरण करना चाहिये। क्योंकि, एक
की तरह धर्म ही मनुष्य की रक्षा करने वाला है।
शरण और सद्गति का कारण है। धर्म के सामने स
सब पदार्थ अकिञ्चित्कर हैं। शास्त्र में कहा है—

> किं पुत्तेहिं पियाहिं च, अत्थेण च पिंडिएण बहुए
> जो मरण—देस-काले, ण होइ आलंबणं किं

अर्थात्—पुत्र और प्रिय स्त्रियों से क्या? तथा
किये हुए धन से भी क्या प्रयोजन? जो कि मृत्यु
कुछ नहीं कर सकते। धर्म की महिमा शास्त्र में
बताई है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

> धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो
> देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सयामणो

अर्थात्—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म संसार
मंगल है। ऐसे धर्म में जिसका सदा मन लगा रहता है
देवता भी नमस्कार करते हैं। फिर राजा महाराजाओं
बात ही क्या? इसलिये धर्म का आचरण करना
नीति में भी कहा है—

अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ।

अर्थात्—शरीर अनित्य है। धन वैभव भी अस्थिर है। काल सदा समीप में घूमता रहता है। इसलिये मनुष्य को धर्म संग्रह करना चाहिये। और भी कहा है—

धर्मः शर्म परत्र चेह च नृणां धर्मोऽन्धकारे रविः
सर्वापत्-प्रशम-क्षमः सुमनसां धर्माभिधानो निधिः।
धर्मो बन्धुरबान्धवे पृथुपथे, धर्मः सुहृन्निश्चलः
संसारोरुमरुस्थले सुरतरुर्नास्त्येव धर्मात्परः ॥

अर्थात्—धर्म मनुष्यों के लिये इस लोक और परलोक में सुख का कारण है। धर्म ही अन्धकार में सूर्य के समान और सभी आपत्तियों को नाश करने में समर्थ निधि है। सज्जनों के लिये बन्धु रहित परलोक मार्ग में धर्म रूप बन्धु ही सच्चे मित्र का काम करता है। इसलिये संसार के विशाल मरुस्थल में धर्म से बढ़कर और कोई कल्पवृक्ष नहीं है। इसलिये शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये सदा प्रमाद रहित होकर धर्म का आराधन करना चाहिये। क्योंकि धर्म का सेवन करके ही प्राणी सुख पाते हैं। धर्म के बिना शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये कहा है कि जीवन को चंचल समझ कर भगवान द्वारा कहे गये धर्म का आचरण करो। धर्म ही रक्षक है और धर्म का सेवन करके ही मनुष्य शांति लाभ कर सकते हैं।

इति श्री पूर्वाचार्य विरचिते श्री गौतमकुलके
छायानुवादो द्वितीयाध्यायः
समाप्तिमगात् ।

आत्म-पाठ

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगोय, एय जीवस्स लक्खणम् ॥१॥

शब्दार्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा तप, वीर्य और उपयोग ये ६ जीव के लक्षण हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन-विश्वास, चारित्र क्रिया, तप और इनकी शक्ति तथा पदार्थ के सामान्य विशेष धर्म का विचार रूप उपयोग है, उसको जीव समझना चाहिये। रंग, रूप, रस, स्पर्श और लम्बाई चौड़ाई आदि दृश्य रूप जीव के नहीं है। न इन दृश्य रूपादिकों में जीव ही है। क्योंकि ये सब जड़ के गुण धर्म हैं। फिर—

आया उवओगमओ, कत्ता भोत्ता उ कम्म जोगेण।

इस प्रकार यह आत्मा स्वरूप से उपयोगमय है, फिर भी जो पुण्य पाप का कर्ता और सुख दुख का भोक्ता है, यह कर्म के संयोग से है, स्वाभाविक रूप से नहीं। इसलिये ऐसा निश्चय करो कि—

एगो मे सासओ अप्पा, नाण दसण सजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ॥२॥

शब्दार्थ—ज्ञान दर्शन संयुक्त मेरा आत्मा ही एक शाश्वत नित्य है। अन्य मित्र कलत्र पुत्रादि व धन-धान्य, जमीन आदि क्या शरीर भी मेरे से इतर है। ये सब मेरे बाह्य भाव संयोग लक्षण वाले हैं। अर्थात् धन दारा आदि पदार्थों में जो मेरा स्व स्वामीपन है वह संयोग से उत्पन्न हुआ है। अतएव नाशवान है। उनके साथ गाढ़ मोह करना ही बन्ध

का कारण है। इसके उच्छेद के लिये अपनी आत्मा पर अनुशासन करना चाहिये। उसका उपाय इस तरह है—

एगोऽहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सई ।
एवं अदीण मणसा अप्पाणमणुसासइ ॥३॥

शब्दार्थ—मैं एक हूं। दूसरा कोई पदार्थ मेरा नहीं है। मैं भी किसी दूसरे पदार्थ का नहीं हूं। इस प्रकार मन से आत्मा का अनुशासन करो। क्योंकि शास्त्र कहता है—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली ।
अप्पा मे कामदुहाधेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ॥४॥

शब्दार्थ—यह आत्मा नरक की वैतरणी नदी है और मेरी आत्मा [illegible] कूट शाल्मली-नारकीय कृत्रिम वृक्ष है। यह आत्मा कामदुहा धेनु है, और मेरी आत्मा ही नन्दन वन है। इसलिये है भव्य आर्यो! यह ध्रुव सत्य है। क्योंकि—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्त ममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अवलम्बन में दुःख और सुख का कर्ता तथा विकर्ता-छेदन करने वाला आत्मा ही है। दुष्प्रतिष्ठित आत्मा शत्रु और सुमार्ग में स्थित आत्मा ही मित्र है। इसलिये—

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥६॥

शब्दार्थ—मार पीट अथवा बंधन आदि दूसरे बाह्य-साधनों से अपना दमन न हो इसके लिये तप और संयम से

को अपनी आत्मा का दमन करो।-यही उत्तम है। क्योंकि आत्म विजयी ही सबको जीतने वाला है—

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इंदियाणि य
ते जिणित्तु जहानाय, विहरामि अहं मुणी ॥७॥

शब्दार्थ—नहीं जीता हुआ एक आत्मा ही शत्रु है और चार कषाय व पांच इन्द्रियां भी शत्रु है। उनको यानी चार कषाय, पांच इन्द्रियां और एक आत्मा इन दसों को जीतकर मैं इच्छानुसार न्यायपूर्वक विचरता हूँ। अर्थात्-इनको जीतने से ही प्राणी सुख पूर्वक विचरता है। उनके जीतने का उपाय बताते हैं—

एगे जिए जिया पंच, पंचजिए जियादस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥८॥

शब्दार्थ—एक बहिरात्मा को जीतने पर चार कषाय जीते जाते हैं। इन पांच को जीत लेने पर १० जीत लिये जाते हैं। यानी पांच इन्द्रियाँ भी जीत ली जाती हैं। जिसने पूर्वोक्त दस शत्रुओं को जीत लिये, उसने सभी शत्रु जीत लिये।

आत्मा को अशुभ कर्म से बचाने के लिये प्रतिदिन ऐसा चिन्तन करना चाहिये—

जो पुव्वरत्ता वर रत्तकाले संपिक्खए अ पगमप्पएणं।
किं मे कडं, किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि।

शब्दार्थ—पूर्वरात्रि और पिछली रात्रि के समय मनुष्य को अपने आपका मन से अच्छा तरह निरीक्षण करना चाहिये।

और देखना चाहिये कि मैंने आत्महित का कौनसा कार्य किया है, और इस प्रकार का कौनसा कार्य मुझे करना बाकी है। कौनसा कार्य शक्य होते हुए भी मैं नहीं करता हूं। और भी—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेवसम्मं अणुपासमाणे, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥१०॥

शब्दार्थ—दूसरे लोग मेरे गुण या दुर्गुण क्या देखते हैं? और मैं क्या देखता हूं? अथवा मेरी आत्मा में कौनसी त्रुटि है जिसे मैं अभी तक नहीं छोड़ सका हूं। इस प्रकार अच्छी तरह से अपने आपको देखकर भविष्य में दुर्गुणों का सेवन नहीं करना चाहिये।

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥

शब्दार्थ—जहां मन वचन व काया से आत्मा को कुमार्ग में लगा देखे, वहीं पर बुद्धिमान को चाहिये कि जैसे जातिमान घोड़ा अपने लड़खड़ाते हुए पांव को सम्भाल लेता है, उसी प्रकार वह भी अपने आप मन को सम्भाल ले।

जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीवइ संजम जीविएणं ॥१२॥

शब्दार्थ—जितेन्द्रिय और धैर्य सम्पन्न जिस सत्पुरुष के सदा ऐसे योग रहते हैं उसको इस लोक में प्रतिबुद्ध जीवी कहते हैं। वह संयमी जीवन व्यतीत करता है। उपदेश और फल—

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ

शब्दार्थ—इसलिये शुभ समाधि युक्त सब इन्द्रियों के द्वारा आत्मा की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि अरक्षित आत्मा जातिपथ-जरा मरण के मार्ग में जाता है और अच्छी तरह सुमार्ग से रक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसलिये कहा है—

अप्पा चेव दमयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥१४॥

शब्दार्थ—कुमार्गगामी आत्मा ही दमन करने योग्य है। क्योंकि आत्मा निश्चय से दुर्दम्य है। जिसने इसका दमन कर लिया वह आत्मा इस लोक और परलोक में सुखी होता है। अतएव भगवान कहते हैं कि संयम और तप से आत्मा का दमन करो तो शान्ति प्राप्त करोगे।

—इति आत्मभावनाऽध्यायः।

बारह—भावना

(अनुवादक—श्री० पूनमचन्द कुन्दनमल जैन अहमदनगर)

श्रावक को चाहिए कि वह प्रात काल एकान्त स्थान में बैठ कर पवित्र चित्त से अनुपूर्वी का वाचन करे और मनको एकाग्र करके नीचे लिखी हुई बारह भावनाओं का मनन करे।

१ अनित्य भावना—

हे जीव ! तू नजर फैलाकर देख कि तेरे आसपास जितने भी पदार्थ दिखते हैं, उनमें और तेरे में क्या भेद है ? जरा विचार करने से तुझे मालूम होगा कि हर एक पदार्थ जैसे धन, दौलत कुटुम्ब परिवार इतना ही नहीं बल्कि तेरा शरीर भी पानी के परपोटे के समान विनाश शील है। उसका नाश होगा ही। क्योंकि उनमें नैसर्गिक नश्वरता है। इन नश्वर पदार्थों के बीच एक आत्मा ही अविनाशी है जिसका नाश नहीं होता। इस लिए इन नाशवन्त वस्तुओं के मोह में न फसकर तू अपने आत्म स्वरूप को पहचान और इस क्षणिक सुख में आनन्द मत मान। भरत महाराज ने आरिसा भवन में अगुली से अगुठी के गिर जाने पर इस 'अनित्य भावना' के अन्दर डुबकी लगाई थी और उसके फलस्वरूप ससार समुद्र से केवल ज्ञान रूप मोती को प्राप्त कर लिया था।

२ अशरण भावना—

हे जीव ! अगर तू अपने अविनाशी रूप को जानने के लिए कोशिश नहीं करेगा तो निश्चय समझना कि इन उपार्जन

हुई वस्तुओं के नाश के कारण होने वाले वियोग से जो तुझे दुःख होगा उस दुःख में तुझे किसी तरह से भी दिलासा नहीं मिलेगी। जिस समय सब चीजों को छोड़ कर तू परलोक की ओर विदा होगा उस समय कोई भी पदार्थ तेरा शरणदाता नहीं होगा। आत्मा के नित्य स्वरूप को जानने वाला धर्म ही एक मात्र सहायक होगा। अगर तुझे शान्ति पाना है तो आत्म-स्वरूप को समझ कर धर्म की शरण में आ।

इसी अशरण भावना के बल पर अनाथी मुनि ने रोग की भयकर दशा में भी कुटुम्ब परिवार को सरक्षक नहीं मान कर धर्म ही का शरण लिया और परिणाम स्वरूप पूर्ण शान्ति के साथ ससार के सच्चे रक्षक व नाथ बन गये।

३ ससार भावना—

श्री शालिभद्रजी को ३२ सुन्दरियों का अनन्त पुण्य और अपरिमित वैभव मिला। जिसको देख कर मगधदेशाधिपति श्रेणिक भी चकित रह गया। किन्तु शालिभद्रजी जब यह जान लेते हैं कि मेरे ऊपर भी नाथ है, उस समय उनको दिव्य भोग और अपनी सुन्दर रमणियां भी नीरस मालूम होने लगी। वे समझने लगे कि ससार के सुख दुःख अपूर्ण और अनित्य हैं। त्याग ही सच्चे सुख का कारण है। इसी भावना से उन्होंने प्रतिदिन एक २ स्त्री को छोड़ते हुए दीक्षित होने की प्रतिज्ञा की। लेकिन बीच ही में धन्नाजी से उनको वैराग्य में उत्तेजना मिली। जिससे वे साधु बने और आत्मा का कल्याण किया।

४ एकत्व भावना—

श्री नमीराजर्षि मिथिला के राजा और हजार स्त्रियों के पति

थे। अब उनके दाह ज्वर की भयंकर जलन को शान्त करने के लिए अनेक वैद्य व हकीम बुलाये गये तब उन्होंने बावना चन्दन को घिस कर लेप करने का उपाय बताया। रानियां चन्दन को घिसने बैठीं तो उनके हाथों की चूड़ियों से एक साथ बड़े जोरों से झंकार का शब्द निकलने लगा। चूड़ियों की यह ध्वनि नमिराज को असह्य मालूम [illegible]। उन्होंने मन्त्री को बुला कर कहा—"यह आवाज कहां से आ रही है?" मन्त्री ने राजा की बात समझ कर अन्तःपुर में सूचना कराई। रानियों ने एक एक चूड़ी रख कर सब चूड़ियां उतार दीं। जिससे आवाज बन्द हो गई। नमिराज ने मन्त्री से फिर पूछा—मन्त्रीजी, आवाज बन्द कैसे हुई? पहले तो बड़े जोर का शब्द हो रहा था। अब यह बिलकुल बन्द कैसे है?

मन्त्री ने चूड़ियों की बात कही। जिससे नमिराज के मन में विचार हुआ कि यह असल में राग द्वेष के साधन ये बाहरी वस्तुएँ ही अशान्ति का कारण होती है। यह जीव तो अकेला ही आया है और अकेला ही जावेगा। इस दुनिया में उसका कोई सहायक नहीं है। ऐसा समझ कर श्री नमिराजर्षि ने भौतिक विलास से दूर हो साधु पद को धारण किया और परिणाम में रोग-शोक रहित पूर्णानन्द की प्राप्ति की।

५ अन्यत्व भावना—

सुग्रीव नगर के अधिपति राजा बलभद्र के प्रिय पुत्र मृगापुत्र ने पुण्योदय से प्रायः सभी सांसारिक सुख प्राप्त किए थे। एक दिन मणिरत्न जटित महलों में अपनी स्त्रियों के साथ रंग राग में बैठे हुए उन्होंने बीच मार्ग में चलते हुए शान्त दान्त

मुनिराज को देखा। मुनि परिचित से मालूम होने लगे। इसलि
उनके मन में तरह २ के ऊहापोह पैदा हुए। अन्त में पूर्व ज
का ज्ञान हो जाने से उन्हें मालूम हुआ कि यह मुनि-पद
आत्मसाधना का मार्ग है। आत्मा का सच्चा मित्र है। मैं भ्रम
भूमा रहा हूं ये धन, दारा, कुटुम्ब सब मेरे से भिन्न हैं। आत
मा शुद्ध बुद्ध और निष्कलंक है। इस विचार से मृगापुत्र सस
को त्याग कर आत्मसाधन में लग गए और परमपद को प्र
कर गये।

अशुचि भावना—

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार का रूप इतना सुन्दर था
देवलोक से देव भी उसे देखने को आया और बूढ़े का रूप ब
कर राज महल के द्वार पर पहुंचा। द्वारपाल से कहा-मैं बच
से ही महाराज के दर्शन करने के लिए अपने घर से निकला थ
आज किसी तरह इस हालत में यहां आ पहुँचा हूं। क्या
महाराज के दर्शन करने के लिए अन्दर जाने दोगे? द्वारपाल
महाराज की आज्ञा से उसे अन्दर जाने की स्वीकृति दे दी
स्नान घर में बैठे हुए चक्रवर्ती के अलंकार रहित शरीर
देखकर वह ब्राह्मण मुग्ध हो गया। रूप के अहंकार से चक्रव
ने उसको फिर राज सभा में आने को कहा। जब महाराज स
सजधज कर सिंहासन पर आ बैठे, तब वह ब्राह्मण भी आ
और उसके रूप को देख कर अपना सिर हिलाने लगा। महार
ने पूछा-क्या, क्या बात है! जिससे तुम सिर हिला रहे हो
बूढ़े ने कहा—महाराज! आपकी देह में तो कीड़े पैदा हो
हैं। अगर आपको विश्वास न हो तो पीकदानी में थूक कर

थूकिये मालूम हो जायगा। महाराज ने ऐसा ही किया। कीड़े साफ दिखाई देने लगे। अब वे विचारने लगे कि जिस देह की सुन्दरता संसार में अनुपम थी, जिसको आज तक अच्छे अच्छे खान-पान व पक्वान्नों से खूब पाला पोसा। उसमें कीड़े कैसे? यहो यह तो सड़न गलन विध्वंसन और अशुचि धर्म वाला है। मैंने अज्ञानवश इसके पीछे आज तक कितने अनर्थ-पापाचरण किये हैं? आत्मा के सम्यक्त्व की ओर लक्ष्य भी नहीं दिया। अब मेरा कर्त्तव्य है कि इस अशुचि शरीर से शुचिभूत संयम की आराधना कर अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त करूं। ऐसा विचार कर चक्रवर्ती सनत्कुमार ने दीक्षा धारण की और अनुपम लब्धियों को प्राप्त कर अन्त में परमपद की प्राप्ति की।

७ आश्रव भावना—

पालित श्रावक ने अपने पुत्र समुद्रपाल का किसी रूपवती कन्या से विवाह कर दिया। वे एक समय अपने महल के झरोखे में बैठे हुए थे। उस समय वध स्थान में ले जाते हुए एक चोर को देखा। उसके शरीर पर काले वस्त्र थे। लोगों में उसकी निन्दा हो रही थी। उसे देख कर समुद्रपाल को विचार हुआ कि पापों का परिणाम कैसा भयंकर है? ये हिंसा, झूठ आदि आश्रव ही आत्मा को संसार में रुलाते हैं। जब इस लोक में ऐसा भयंकर दुःख होता है तो परलोक में क्या परिणाम होगा? इस तरह पापों के कटुफल का विचार करते हुए समुद्रपाल प्रतिबोध पाकर संयमी बन गये और अन्त में संयम का आराधन करते हुए परम पद की प्राप्ति की।

८ संवर भावना—

श्री केशीश्रमण और गौतम स्वामी ने परस्पर इन्द्रिय, कषाय व मनोनिग्रह आदि संवरों पर विचार किया और उसके लिए समुचित प्रवृत्ति को दुराग्रह नहीं करते हुए धारण की। अर्थात् केशीश्रमण ने ४ महाव्रत से ५ महाव्रत रूप धर्म को उचित समझ कर अपनाया। इस तरह विशुद्ध संवर भावना से दोनों महात्माओं ने अपने आत्म कल्याण की साधना सफल की।

९ निर्जरा भावना—

हर रोज ६ पुरुष और १ स्त्री मारने वाला अर्जुनमाली सुदर्शन श्रावक के सहयोग से भगवान महावीर की सेवा में पहुँचा। पापों का कटु फल सुन कर उसने भी साधुपन स्वीकार किया। तप के पारणे के लिए जब वे राजगृह में घूमने लगे तब कई लोगों ने उन्हें गालियां दीं और कई लोगों ने उन्हें मारा-पीटा भी। लेकिन मुनि अर्जुनमाली सोचते कि मेरा इन्होंने अभी क्या बिगाड़ा? मैंने तो इन लोगों को बहुत कष्ट दिया है। कई लोगों को जान से मारा है। ये तो मुझे केवल ऊपरी कष्ट ही दे रहे हैं। मेरे कर्मों की निर्जरा में कारण बन रहे हैं। अगर इन कष्टों को समभाव पूर्वक सहूंगा तो मेरी आत्मा निर्मल बन जायगी। इससे प्रतिकूल अगर विषम भाव लाऊं तो कष्ट के सिवाय कर्म-भार भी बढ़ जायगा। इस तरह दुःखों में निर्जरा भावना करते हुए छह मास में ही मुनि अर्जुनमाली ने केवलज्ञान प्राप्त कर आत्म कल्याण कर लिया।

१० लोक स्वरूप भावना—

शिव राजर्षि ने विभंग ज्ञान से ७ द्वीप और ७ समुद्र तक ही लोक है ऐसा जाना, और वे उस मिथ्या ज्ञान का प्रचार करने लगे। जब गौतम स्वामी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने भगवान महावीर से पूछा–भगवन! क्या यह बात सत्य है? भगवान महावीर ने उत्तर में असंख्यात द्वीप और समुद्रों का होना फरमाया। इसको सुनकर जनता शिवराज ऋषि के कथन को मिथ्या कहने लगी। शिव राज ऋषि इसे सुनकर विचार करने लगे कि सत्य क्या है? मेरा ज्ञान कहीं असत्य तो नहीं है? ऐसा सोचते हुए समयान्तर में उनका यह विभंग ज्ञान चला गया। तब वे स देह निवारण के लिए भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। शिवराजर्षि ने अपने प्रश्न का योग्य उत्तर और उपदेश सुनकर भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करली। संयम की अखंड आराधना के साथ लोक स्वरूप का विचार करते हुए उन्होंने समय पर केवल ज्ञान की प्राप्ति की और सम्पूर्ण लोकालोक का ज्ञान कर सच्ची शान्ति के अधिकारी बनें।

११ धर्म भावना—

श्री धर्मरुचि महाराज कडवे तुम्बे का विषैला आहार पाकर जब गुरु आज्ञा से डालने को गये, तब एक बूंद से यह कर मैंकड़ों कीड़ियों का मरना देखा। यह देख कर उन्होंने विचार किया कि जब एक बूंद से इतने जीवों का संहार होता है तो सब रस डाल देने पर तो अनर्थ हो जायगा। असंख्य जीवों की या ही हत्या हो जायगी। इसलिए अच्छा तो यह है कि दया

धर्म की आराधना के लिए मैं ही इसे पी जाऊं। यह शरीर तो एक दिन जाने ही वाला है। अगर यह धर्म के लिए काम आवे तो इससे बढ़कर और चाहिए ही क्या? यह विचार कर धर्मरुचि ऋषि ने उस कड़वे तुम्बे का आहार कर लिया। विष के भयंकर परिणाम से होनेवाली प्रबल वेदना को उन्होंने समभाव पूर्वक सहा, और समभाव में प्राणान्त कर सर्वार्थसिद्धि के शाश्वत सुख को प्राप्त किया।

१२ बोधिबीज भावना—

भगवान् ऋषभदेव के ९८ पुत्रों ने संसार के प्रायः सभी सुख पाये थे। लेकिन भगवान् के दीक्षित हो जाने पर समय पाकर वे भी दीक्षा लेने को तैयार हुए। उस समय उनके बड़े भाई भरत ने राज्य आदि का आमन्त्रण करते हुए उनसे कहा-बन्धुओं! अभी आप मिले हुए इन उत्तमोत्तम भोगों को भोगिये और फिर संयम लीजिये। इस पर वे कहने लगे-भाई! ये संसारके भोग तो आत्मा को अनन्त बार मिले हैं। लेकिन इनसे आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिली। फिर उनके मोह में फँसकर अपना अहित करना कहां तक उचित है? हम तो अब अत्यन्त दुर्लभ इस बोधि-बीज-समकित रत्न की आराधना करेंगे। जिसकी एक बार की हुई आराधना ही जन्म मरण के फेर को टाल सकता है। क्या अब भी हम इससे वंचित रह जायें? इस तरह अपने भाई भरत को समझा कर सब बन्धुओं ने और समकित रूप बोधिभावना से अपना कल्याण किया।

प्रार्थना-संग्रह

(श्री अनन्त जिन स्तुति)

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं, अद्भुत जोत अलेख।
ना कहिये ना देखिये, जाके रूप न रेख ॥अ०॥
सूक्षमथी सूक्षम प्रभू, चिदानन्द चिद् रूप।
पवन शब्द आकाश थी सूक्षम ज्ञान सरूप ॥अ०॥
सकल पदारथ चिन्तवूं, जे जे सूक्षम होय।
तिणथी तू सूक्षम महा, तो सम अवर न कोय ॥अ०॥
कवि पंडित कहि कहि थके, आगम अर्थ विचार।
तो पण तुम अनुभव तिको, न सके रसना उच्चार ॥अ०॥
आप भणे तुम्ह सरस्वती, देवी आपो आप।
कही न सके प्रभु तुम सत्ता, अलप अज्ञ रा जाप ॥अ०॥
मन बुध वाणी तो विषे पहुँचे नहीं रे लगार।
साखी लोकालोकनो, निर्विकल्प निर्विकार ॥अ०॥
मा 'सुजसा' 'सिंहरथ' पिता, तस सुत अनन्त जिनन्द।
'विनयचन्द' अब ओलख्यो, साहिब सहजानन्द ॥अ०॥

(श्री श्रेयांस जिन स्तुति)

चेतन जाण कल्याण करन का, आन मिल्यो अवसर रे।
शास्त्र प्रमाण पिछाण प्रभु गुन, मन चंचल थिर कर रे ॥१॥
श्री श्रेयांस जिनन्द सुमर रे॥
सास उसास विलास भजन को, दृढ विश्वास पकर रे।
अजपाऽभ्यास प्रकाश हिये बीच, सो सुमरन जिन वर रे ॥२॥
कंदर्प क्रोध लोभ मद माया, ए सब ही परिहर रे।
सम्यक दृष्टि सहज सुख प्रगटे ज्ञान दशा अनुसर रे ॥३॥

मृत प्रपंच जीवन तन धन अरु स्वजन सनेही घर रे ।
छिन में छोड़ चले पर भव कूँ, बंध शुभाशुभ थिर रे ॥४॥
मानुष जनम पदारथ जिनकी, आशा करत अमर रे ।
ते पूरब सुकृत करि पाया, धरम मरम दिल धर रे ॥५॥
'विष्णुसेन' नृप 'विश्नाकाराणी' को नंदन तू न विसर रे ।
सहजैं मिटे अज्ञान अविद्या, सो मुक्ति पथ पग भर रे ॥६॥
तू अविकार विचार आतम गुन, भ्रम जंजाल न पर रे ।
पुद्गल चाव मिटाय विनयचन्द तू जिन चरन (मैन) अवसर रे
श्री श्रेयांस सुमर रे ॥७॥

श्री महावीर जिन-स्तवन

श्री महावीर नमो वरनाणी शासन जहनो जाण रे प्राणी ।
धन धन जनक सिद्धारथ राजा धन त्रिशलाद मात रे प्राणी ॥१॥
ज्यों सुत जायो गोद खिलायो, वर्धमान विख्यात रे प्राणी ।
प्रवचन सार विचार हिया में कीजे अरथ प्रमाण रे प्राणी ॥२॥
सूत्र विनय आचार तपस्या चार प्रकार समाध रे प्राणी ।
ते करिये भव सागर तरिये आतम भाव आराध रे प्राणी ॥३॥
ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे भूषण नाम अनेक रे प्राणी ।
त्यों जगजीव चराचर जोनी, है चेतन गुण एक रे प्राणी ॥४॥
अपनो आप विषै थिर आतम सोहं हंस कहाय रे प्राणी ।
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी ॥५॥
शब्द रूप रस गंध न जामें नाम परस तप छांह रे प्राणी ।
तिमिर उद्योत प्रभा कछु नाहीं, आतम अनुभव माहि रे प्राणी ॥६॥
सुख दुख जीवन मरण अवस्था ए दस प्राण संगात रे प्राणी ।
इणथी भिन्न विनयचन्द रहिये, ज्यों जल में जलजात रे प्राणी ॥७॥
—कविवर श्री विनयचन्द जी ।

श्री अजित जिन-स्तवन

पथडो निहालुं रे बीजा जिनतणो रे अजित अजित गुणधाम ।
जे तें जीत्या रे ते मुझ जीतियो रे, पुरुष किश्युं मुझ नाम ॥१॥
चरम नयन करी मारग जोवता रे, भूल्यो सयल संसार ।
जेणे नयन करी मारग जोइए रे, नयन ते दिव्य विचार ॥२॥
पुरुष परंपर अनुभव जोवता रे, अंधोअंध पुलाय ।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे चरण धरण नहीं ठाय ॥३॥
तर्क विचारे रे वाद परंपरा रे, पार न पहोंचे काय ।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे ते विरला जग जोय ॥४॥
वस्तु विचारे रे दिव्य नयन तणो रे, विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे वासित बोध आधार ॥५॥
काललब्धि लही पंथ निहालशुं रे ए आशा अवलम्ब ।
ए जन जीवे रे जिनजी जाणजो रे 'आनन्दघन' मत अम्ब ॥६॥

श्री श्रेयांस-जिन-स्तवन

श्री श्रेयांस जिन अन्तरजामी, आतमरामी नामी रे,
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुक्तिगति गामी रे ।श्री श्रे०१॥
सयल संसारी इन्द्रियरामी मुनिगुण आतमरामी रे
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निःकामी रे । श्री श्रे० २ ॥
निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेह अध्यातम लहिये रे
जे किरिया करी चउगति साधे ते न अध्यातम कहिये रे ।श्रे०३॥
नाम अध्यातम ठवण अध्यातम द्रव्य अध्यातम छंडो रे,
भाव अध्यातम निज गुण साधे, तो तेहशुं रढ मंडो रे ।श्रीश्रे०४॥
शब्द अध्यातम अर्थ सुणी ने, निर्विकल्प आदरजो रे,
शब्द अध्यातम भजना जाणी, हान ग्रहण मति धरजो रे ।श्रीश्रे०५॥

अध्यातमी जे वस्तु विचारी, बीजा वधा लवासी रे,
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, 'आनदघन' मत वासी रे। श्री श्रे० ६॥

श्री वासुपूज्य-जिन-स्तवन

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परनामी रे।
निराकार साकार सचेतन, करम करम फल कामी रे। १॥
निराकार अभेद सम्राहक, भेद ग्राहक साकारो रे।
दर्शन ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे। २॥
कर्ता परिनामी परिणामो, कर्म के जीव करिये रे।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नर अनुसरिये रे। ३॥
दुःख-सुख रूप करमफल जाणो, निश्चय एक आनंदो रे।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे। ४॥
परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान कर्मफल भावी रे।
ज्ञान कर्मफल चेतन कहिए, लेजो तेह मनावी रे। ५॥
आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा द्रव्यलिंगी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, 'आनदघन' मत संगी रे। ६॥

श्री नमि-जिन-स्तवन

षट् दर्शन जिन-अंग भणीजे, न्यास षडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षड्-दर्शन आराधे रे। १॥
जिन सुर पादप पाय बखाणु, सांख्य जोग दोय भेदे रे।
आतम-सत्ता विवरण करता लहो दुग अंग अखेदे रे। २॥
भेद अभेद सुगत मिमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवलम्बन भजिये गुरुगमथी अवधारी रे। ३॥
लोकायतिक कूख जिनवरनी अंश विचार जो कीजे रे।
तत्त्व विचार जो कीजे रे, गुरु गम विन किम पीजे रे। ४॥

जैन जिनेश्वर वर उत्तम अंग अंतरंग बहिरंगेरे।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगरे। ५ ॥
जिनवरमां सघला दर्शन छे, दर्शने जिनवर भजना रे।
सागरमां सघली तटिनी सही तटिनीमां सागर भजना रे ।६॥
जिन स्वरूप थइ जिन आराधे ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटावे ते भृंगी जग जोवे रे। ७ ॥
चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्परा अनुभव रे।
समय-पुरुषना अंग कह्या ए जे छेदे ते दुर्भव रे। ८ ॥
मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अर्थ विनियोगे रे।
जे ध्यावे ते नवि वंचीजे क्रिया अवंचक भोगे रे। ९ ॥
श्रुत अनुसार विचारी बोलु सुगुरु तथाविध न मिलेरे।
किरिया करी नवि साधि शकिय, ए विषवाद चित्त सघले रे।१०॥
ते माटे ऊभो कर जोडी, जिनवर आगल कहिये रे।
समय चरण सेवा शुद्ध देजो जिम 'आनन्दघन' लहिये रे।११॥

-श्रीमदानन्दघनजी म०

श्री पद्मप्रभु-जिन-स्तवन

श्री पद्मप्रभ जिन गुणनिधि रे लाल,
जग तारक जगदीश रे वालेसर।
जिन उपगार थकी लहे रे लाल
भविजन सिद्धि जगीश रे वालेसर ॥१॥
तुज दरिसण मुज वालहो रे लाल,
दरिशण शुद्ध पवित्त रे वालेसर।
दरिशण शब्द नये करे रे लाल,
संग्रह एवभूत रे वालेसर ॥२॥

बीजें धृत अनननता रे लाल
पसर भूतल योग रे वालेसर ।
तिम मुज आतम सम्पदा रे लाल,
प्रगटे प्रभु संयोग रे वालेसर ॥३॥
जगत जन्तु कारज रुचि रे लाल,
साधे उदये भाण रे वालेसर ।
चिदानन्द सुविलासता रे लाल,
वाधे जिनवर झाण रे वालेसर ॥४॥
लब्धि सिद्धि मन्त्राक्षरे रे लाल,
उपजे साधक संग रे वालेसर ।
सहज अध्यातम तत्त्वता रे लाल,
प्रगटे तत्त्वी रंग रे वालेसर ॥५॥
लोह धातु कांचन हुवे रे लाल
पारस फरसन पामी रे वालेसर ।
प्रगटे अध्यातम दशा रे लाल
व्यक्त गुणी गुण ग्राम रे वालेसर ॥६॥
आत्मसिद्धि कारज भणी रे लाल
सहज नियामक हेतु रे वालेसर ।
नामादिक जिनराजना रे लाल
भवसागर माहे सेतु रे वालेसर ॥७॥
स्तंभन इन्द्रिय योगना रे लाल
रक्त वर्ण गुण राय रे वालेसर ।
'देवचन्द्र' वृन्दे स्तव्यो रे लाल
आप अवस्थ अमाय रे वालेसर ॥८॥

श्री देवचन्द्रजी म०

श्री शान्ति स्तवन

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति सब मिल शान्ति कहो।
प्रभु सेन अचिरा के नन्दन, सुमिरन है सब दुःख निकन्दन।
महामारी हो दूर सब मिल शान्ति कहो॥ ॐ शान्ति०॥
भीतर शान्ति बाहर शान्ति तुम में शान्ति मुझ में शान्ति।
सब में शान्ति बसाओ, सब मिल शान्ति कहो॥२॥
विषय कषाय को दूर निवारो काम क्रोध से करो किनारो।
शान्ति साधना यों हो, सब मिल शान्ति कहो॥३॥
शान्ति नाम जो जपते भाई मन विशुद्ध किये धीरज लाई।
अतुलित शान्ति उसे हो, सब मिल शान्ति कहो॥४॥
प्रात समय जो धर्म स्थान में, शान्ति पाठ करते मृदु स्वर से।
उनको दुःख नहीं हो सब मिल शान्ति कहो॥५॥
शान्ति प्रभु सम समदर्शी हो, करें विश्व हित जो उनकी हो।
'गज मुनि' सदा विजय हो सब मिल शान्ति कहो॥६॥

—पू० हस्तीमलजी म०

प्रार्थना—

दयामय ऐसी मति हो जाय।
त्रिभुवन की कल्याण कामना दिन-दिन बढ़ती जाय॥
दयामय ऐसी मति हो जाय॥
औरों के सुख को सुख समझूँ सुख का करूँ उपाय।
अपने सब दुःखों को सहलूँ पर दुःख सहा न जाय॥दया०॥
भूले भटके उलटी मति के, जो हैं जन समुदाय।
उन्हें सुझाऊँ सच्चा सत्पथ निज सर्वस्व लगाय॥दया०॥

सत्य धर्म हो सत्य कर्म हो सत्य ध्येय बन जाय।
सत्यान्वेषण में ही 'प्रेमी' जीवन यह लग जाय ॥दया०॥

-श्री नाथूरामजी 'प्रेमी'

श्री पार्श्व-जिन-स्तवन

वामाजी को प्यारो पारस पारस सो दुलारो रे।
विश्वसेन कुल कमलदिवाकर नैनन को उजियारो रे ॥१॥
सुजस प्रभु को तीन लोक में छाय रह्यो विस्तारो रे ॥२॥
मोह करम वश भटक्यो भव में बांध्या पाप हजारो रे ॥३॥
तुम शरणे आयो महा प्रभु उर निरखो सोच विचारो रे ॥४॥
पुण्य जोग सूँ इण भव मांही रतन चिन्तामणि पायो रे ॥५॥
हूं जड़ मूरख फैंक न देऊं, पारस कांकरो थारो रे ॥६॥
द्वार खड़ा 'रत्नेश' कृपानिधि, तरणे मोक्षनगारो रे ॥७॥
तू करुणानिधि सायब मारो, लीजे पार उतारो रे ॥वामाजी॥

—र० कु० रत्नेश



स्वाध्याय-ग्रन्थ

स्वाध्याय प्रेमियों के लिये अब हम यहां कुछ [illegible] ग्रन्थों की सूची उपस्थित करते हैं, जिससे पाठकों को [illegible] रुचि अनुसार स्वाध्याय ग्रन्थ चुनने में कोई [illegible] होगा।

सार्वजनिक वाचन योग्य पुस्तकें—

१	सेठ सुदर्शन	पूज्य [illegible]
२	सेठ धन्ना	— — —
३	सती चन्दनबाला	— — —
४	सती राजेमती	— — —
५	सुबाहु कुमार	— — —
६	सनाथ अनाथ निर्णय	— — —
७	श्रावक का अहिंसा व्रत	[illegible]
८	नमिराज —	[illegible]
९	भ० महावीर का आदर्श जीवन	[illegible]
१०	जम्बू कुमार —	
११	महावीर वाणी —	— —
१२	आत्म प्रबोध —	[illegible]
१३	आनन्द की पगडंडी —	[illegible]
१४	सम महाव्रत —	[illegible]
१५	भावना शतक —	[illegible]
१६	वर्षाध्य बोधक —	[illegible]

१७ सामायिक स्वरूप — श्री नानचन्दजी महाराज
१८ स्थानकवासी जैन इतिहास — श्री केशरीचन्दजी भंडारी
१९ तीर्थंकर चारित्र १ भाग — श्री बालचन्दजी श्रीश्रीमाल
२० „ „ २ भाग — „ „
२१ सामायिक प्रतिक्रमण सार्थ

विशेष श्रेणी की पुस्तकें—

१ निर्ग्रंथ प्रवचन (भाष्यसहित) — प्र० व० चौथमलजी महा०
२ ज्ञानार्णव (ध्यान सम्बंधि) — श्री शुभचन्द्राचार्य
३ कारण संवाद
४ उद्दिवाद और ईश्वर — शतावधानी प० रत्नचन्द्रजी म०
५ उत्तराध्ययन (हिन्दी) — श्री सन्तबालजी
६ जैन तत्त्व प्रकाश — पूज्य अमोलक ऋषिजी म०
७ ध्यान कल्पतरु — „ „
८ उत्तराध्ययन (हिन्दी) — उपाध्याय आत्मारामजी म०
९ दशाश्रुत स्कंध — „ „
१० उपासक दशांग — श्री घासीलालजी महाराज
११ दशवैकालिक सूत्र — पूज्य हस्तीमलजी महाराज
१२ नन्दी सूत्र — „ „
१३ तत्त्वार्थ सूत्र — प० सुखलालजी
१४ कर्मग्रन्थ
१५ आचारांग (हिन्दी) — श्री सन्तबालजी
१६ सूत्रकृतांग सूत्र ४ भाग (सटीक) — पू० जवाहिरलालजी म०
१७ स्याद्वादमंजरी (भाषानुवाद) — श्री जगदीशचन्द्र एम० ए०
१८ लोंकाशाह मत समर्थन — श्री रतनलालजी डोशी
१९ मुखवस्त्रिका सिद्धि

पद्य—

विनयचन्द चौबीसी	सुश्रावक विनयचन्दजी
स्तवन तरंगिणी भा० १,२,३,	पूज्य माधव मुनिजी
मेरी भावना	श्री मुख्तारजी
आनन्दघन पद संग्रह	कवि आनन्दघनजी
शुक्ल रामायण १,२,३ भाग	श्री शुक्लचन्द्रजी महाराज।



— परिशिष्ट —

गौतम-कुलक से सम्बन्ध रखने वाली कुछ कहानियाँ हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। आशा है नवीन पाठकों को इससे कुछ लाभ ही पहुँचेगा।
—सम्पादक।

१—सागरदत्त सेठ

कई दिनों पहले की बात है। किसी गाँव में एक करोड़पति सेठ रहता था। उसका नाम था सागरदत्त। उसके चार लड़के थे। सेठ ने चारों लड़कों के विवाह कर दिये थे। पुत्र वधुओं के घर से भी बहुत धन-माल मिला था। लेकिन वह सेठ पहले नम्बर का कंजूस। विवाह हो जाने पर उसने सोचा-अगर लड़के बैठे २ खा जाते रहेंगे तो एक न एक दिन मेरा खजाना खाली हो जायगा। यह सोचकर उसने अपने लड़कों को बुलाया और विदेश में धन कमाने के लिये जाने को कहा। लड़के अपने पिता के स्वभाव से परिचित थे। अतः लाचार हो वे चुपचाप विदेश चले गये। उनके चले जाने पर घर सुनसान हो गया। सेठजी अकेले रह गये। पुत्रवधुएं उच्च कुल की थी। पति की मौजूदगी में तो वे किसी तरह अपना मन बहला लेती थी, परन्तु अब उनका कोई सहारा नहीं रहा। सब तरह से उनको कठिनाइयां हो गई। न खाने को अच्छा मिलता था न पहनने को ही। इस तरह चारों पुत्रवधुएं दुःख से अपने दिन व्यतीत करने लगी। एक दिन की बात है चारों पुत्रवधुएं अपने काम धन्धे से निपट कर झरोखे में बैठी हुई आपस में बातचीत कर रही थी-बड़ी वधु ने कहा-बहिन! सेठजी की कृपा से रूखा-सूखा तो हमें

मिलता हा है, फिर आयंबिल क्यों नहीं कर लिया करें। यह बात सबकी जँच गई। अब वे रोज आयंबिल तप करने लगी। तपस्या के प्रभाव से देवी प्रसन्न हुई और उसने उनको आकाश-गामिनी विद्या प्रदान की।

फिर क्या था? पुत्र वधुओं के दिन पलटे। शाम होते ही वे सब एक बड़े लक्कड़ पर बैठी और बोली-चलो रत्नद्वीप! इतना कहते ही विद्या के बल से वह लक्कड़ आकाश में उड़ने लगा और रत्नद्वीप में जाकर रुक गया। पुत्रवधुऐं उतरी और रत्नद्वीप में घूमने लगी। वहा चारों तरफ रत्न ही रत्न दिखाई देते थे। पुत्रवधुऐं कुछ देर तक घूमती रहीं और फिर एक २ रत्न लेकर वापिस अपने घर लौट आई। घर आकर उन्होंने अपनी दासी को एक रत्न देकर हलवाई के पास भेजा और यह कहलाया कि हम जो कुछ तुम्हारे से मगायें वह तुम भेजा करना। जब तुम्हारे पैसे इस रत्न से अधिक हो जायगें, तब हम तुम्हारा हिसाब कर देंगे और हमारा रत्न लेलेंगे। तब तक यह रत्न तुम अपने पास रखो। दासी की बात सुनकर हलवाई बड़ा प्रसन्न हुआ और वह रत्न ले लिया। पुत्रवधुऐं इच्छानुसार तरह तरह की मिठाइया मगाने लगी। अब उनको किसी तरह की तकलीफ न रही। कुछ दिनों बाद हलवाई ने सोचा सेठजी तो एक नम्बर के कंजूस हैं। वे मेरे रुपये क्या देंगे? कहीं पुत्रवधुऐं मुझे धोखा तो नहीं दे रही हैं? उन्होंने जो रत्न मेरे यहा जमा कराया है न जाने वह क्या है? और कितनी कीमत का है? मैं तो सेठजी के पास जाकर अपने रुपये ले आऊँ और यह रत्न दे आऊँ। ऐसा सोच कर वह सेठजी के पास गया और रत्न देकर बोला-यह आपका

रत्न सम्हालिये और मेरे रुपये दीजिये। सेठजी ने रत्न देखा तो आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने पूछा—यह तू कहां से लाया? हलवाई ने सब सच बात कह दी। सेठजी ने उसको रुपये देकर वह रत्न ले लिया। ऐसा रत्न उन्होंने आज तक नहीं देखा था। वे सोचने लगे—यह रत्न पुत्रवधुएं कहां से लाई हैं? इसकी खोज करनी चाहिये। अब वे बराबर अपनी पुत्रवधुओं का ध्यान रखने लगे। एक दिन शाम को सेठजी ने देखा कि पुत्रवधुएं घर में नहीं हैं। घर के आसपास चारों तरफ देखा। अपने बाड़े में भी देखा, लेकिन वहाँ भी पुत्रवधुएं नहीं मिलीं। बाड़े में एक बड़ा लक्कड़ भी गायब था। जिसे देखकर सेठजी विचार में पड़ गये। कुछ समय बाद जब सेठजी अपने घर में आये तो पुत्रवधुएं घर में मिलीं और वह लक्कड़ भी यथा-स्थान पर पड़ा हुआ पाया। उसे देखकर सेठजी का यह दृढ़ निश्चय हो गया कि पुत्रवधुएं इस लक्कड़ पर बैठ कर ही कहीं न कहीं जाती हैं।

दूसरे दिन सेठजी ने एक सुथार को बुलाया और उस लक्कड़ को पोला कर नीचे एक आलेदार किंवाड़ बनवाया। जिसे कोई आसानी से नहीं देख सकता था। शाम होते ही सेठजी उस लक्कड़ में आ बैठे। रोज की भांति आज भी पुत्रवधुएं आईं और उस लक्कड़ पर बैठ गईं। विद्या का स्मरण करते ही वह लक्कड़ उड़ा और रत्नद्वीप जा पहुँचा। पुत्रवधुएं रोज की तरह उतरीं और एक तरफ जाकर बैठ गईं। सेठजी ने बाहर मुँह निकाला तो चारों तरफ रत्न ही रत्न दिखाई दिये। उन्होंने अपने मन में सोचा मेरी वधुएं कितनी मूर्ख हैं? ऐसी खान मिलने पर भी एक २ रत्न लाती हैं? लो, मैं आज

बहुत सारे रत्न इकट्ठे कर लेता हूं। ऐसा सोचकर वे बाहिर निकले और चुपके से रत्नों को बीनकर सारा लक्कड़ भर दिया। इतने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये दो चार अपनी जेब में और दो चार अपने हाथ में भी ले लिये। फिर झटपट अपनी पुत्रवधुओं से आज्ञा बताते हुए उस लक्कड़ में बैठ गये। कुछ देर बाद वधुएं आई और एक २ रत्न ले बैठ गई। लक्कड़ उड़ा। लेकिन आज यह भार से नीचे आ रहा था। यह देखकर उनमें से एक ने कहा—बहिन! आज तो लक्कड़ नीचे आ रहा है। दूसरी बोली—यदि नीचे आता है तो छोड़ दो। अपन तो यों ही विद्या के बल से चली जायगी। जब सेठजी ने यह सुना तो वे गिड़गिड़ाते हुए बोले—नहीं! छोड़ना मत! भीतर मैं हूं—तुम्हारा ससुर। तीसरी ने कहा—अरे! आज तो अच्छा अवसर मिला है। दूसरी बोली—देखती क्या हो? फिर कब ऐसा मौका मिलेगा? फिर क्या था? चारों ही पुत्रवधुएं लक्कड़ को छोड़कर उड़ गई। उनके उड़ते ही लक्कड़ नीचे समुद्र में आ गिरा। रत्नों के साथ लोभी सागरदत्त सेठ भी सागर में डूब गया। इस तरह अति लोभ करने का उसको यह फल प्राप्त हुआ।

७—जम्बू स्वामी

राजगृही नगरी में ऋषभदत्त नाम के एक सेठ रहते थे। उनके पुत्र का नाम जम्बूकुमार था। जिस दिन जम्बूकुमार आठ कन्याओं के साथ विवाह कर घर आये, उसी दिन उनके घर पर प्रभव आदि ५०० चोरों ने डाका मारा। जम्बूकुमार [illegible]

में हो रहा हुआ था। प्रभव के हुक्म से सब चोरों ने अपनी २ पोटलियां बांधली। जम्बूकुमार अपने महल में चोरों को देख रहे थे। यह हाल देखते हुए उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने साधु बनने का दृढ़ निश्चय कर लिया। बीच ज्योंही चोर चलने को तयार हुए देव माया से उनके पाँव जमीन से चिपक गये। प्रभव ने कहा-जल्दी क्यों नहीं हो? अब क्या देख रहे हो? चोरों ने कहा-चले कैसे? हमारे पांव तो जमीन से चिपक गये हैं। हम तो हिल भी नहीं सकते हैं। प्रभव सुनकर हक्काबक्का हो गया। ऊपर से धीमी आवाज आ रही थी। वह उसी को लक्ष्य कर ऊपर चढ़ने लगा। ऊपर कुमार अपनी आठों ही पत्नियां के साथ विचार कर रहे थे। पत्नियां कुमार से कह रही थी-जब आप दीक्षा ही लेना चाहते थे तो हमारे साथ विवाह क्यों किया? क्या हमारी जिन्दगी बरबाद करने के लिये आपने विवाह किया है? कुमार ने कहा-मैंने तो यह बात पहले ही कह दी थी, इसमें मेरा क्या दोष है? अगर तुम्हारा और मेरा परस्पर सच्चा विवाह है तो हमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे फिर कभी हम इन झंझटों में ही नहीं पड़ें।

प्रभव कान लगाकर इन बातों को सुन रहा था। उसके हृदय पर इसका बड़ा असर पड़ा। वह सोचने लगा कि एक तो हम हैं जो सदा पर धन और पर स्त्रियों की ही खोज किया करते हैं, और एक ये कुमार हैं जो प्राप्त सम्पत्ति और सुख-विलास को छोड़ कर संयम ले रहे हैं। धन्य है कुमार को? ऐसा सोचकर वह कुमार के पैरों में जा गिरा और अपने कार्यों का पश्चात्ताप कर कहने लगा-कुमार? कृपा कर मुझे भी अपने

संयम ले लिया। प्रभव के साथ उसके ५०० साथी भी जम्बू कुमार के साथ दीक्षित हुए और आत्म कल्याण में संलग्न हो गये।

२—धन्ना सेठ

आज से ढाई हजार वर्ष पहले राजगृही नगरी में धन्नाजी नामके एक बड़े ही भाग्यवान और सम्पत्तिशाली सेठ थे। उनकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। वह गोभद्र सेठ की कन्या और शालिभद्र की बहिन थी। एक दिन जब वह अपने पति धन्नाजी को स्नान करा रही थी तब उसको अपने भाई की याद आ गई। विचार आते ही उसकी छाती भर आई और आँखों से आंसू बहने लग गये। आंसुओं की कुछ गरम २ बूंद सेठजी की पीठ पर आ गिरीं। सेठजी ने सिर उठाकर पत्नी की तरफ देखा तो सुभद्रा रो रही थी। धन्नाजी ने पूछा-तुम रो क्यों रही हो सुभद्रा? क्या तुम्हें कोई मानसिक तकलीफ है? तुम्हें किस बात की कमी है जो इस तरह अधीर हो रही हो?

सुभद्रा ने गद्गद कंठ से कहा-कमी किस बात की है स्वामी? आपकी कृपा से सब आनन्द है। लेकिन मुझे अपने भाई की याद आ गई थी। मेरा एकमात्र भाई शालीभद्र दीक्षित होने को तत्पर हो रहा है। वह प्रतिदिन एक २ स्त्री का त्याग कर रहा है। इसी बात ने मेरा हृदय भर दिया और मैं रो पड़ी।

सेठजी ने कहा—बस! इतनी सी बात पर इतना पश्चात्ताप और इतने बड़े आंसू होते हैं? जब उन्हें संसार छोड़ना ही है तो फिर देर क्यों कर रहे हैं? एक २ स्त्री का छोड़ना तो कायरता है, सभी का एक साथ क्यों नहीं छोड़ देते?

सेठजी की बात ने सुभद्रा के घाव पर नमक छिड़का। वह रोष में आकर बोली—संसार को त्यागना कोई हंसी-खेल नहीं है। कहना बड़ा आसान है पर करना बड़ा टेढ़ा काम है।

सेठजी को सुभद्रा की बात चुभ गई। त्याग की भावना उनके हृदय में घर कर गई। वे तुरन्त उठ खड़े हुए और कहने लगे—लो मैंने आज ही तुम सभी को छोड़ दिया। आज से तुम और तुम्हारी अन्य सौतें, सभी मेरे लिये बहिन तुल्य हैं।

सुभद्रा का कलेजा थर थर कांपने लगा। वह अपने किये पर पछताने लगी। धन्नाजी से अनुनय विनय करने लगी। लेकिन धन्नाजी का मन तो त्याग की तरंगों में हिलोरें ले रहा था। उन्होंने एक न सुनी। इधर से सुभद्रा की अन्य सौतें भी आ गई। सबने धन्नाजी को चारों तरफ से घेर लिया। वे सब रो रो कर उन्हें मनाने लगी। लेकिन धन्नाजी अपने वचन से विमुख नहीं हुए। उन्होंने कहा—अगर तुम मुझ से सच्चा स्नेह रखती हो तो तुम भी मेरे साथ दीक्षित हो जाओ। मैं यथा एक न दिन तुम्हें यह संसार छोड़ देगा।

धन्नाजी की बात सुनकर उनकी पत्नियां भी उनके साथ हो गई। सबको साथ ले वे अपने साले शालिभद्र के घर पहुँचे और बोले—शालिभद्र ! अच्छे काम में इतना विलम्ब क्यों ? शालिभद्र ने जब उन्हें देखा तो वे भी उनके साथ हो लिये। अन्त में सबने एक साथ वीर प्रभु से दीक्षा ग्रहण की और संसार के भोग विलासों को ठोकर मार कर शुद्ध चारित्र का पालन किया। इस प्रकार सबने मोक्ष मार्ग के पथिक बनकर अपना जीवन का कल्याण किया।

४—कुण्डरीक

महाराज महापद्म के दो पुत्र थे। एक का नाम था पुण्डरीक और दूसरे का कुण्डरीक। एक दिन मुनि का उपदेश सुनकर राजा दीक्षित हो गया और अपना राज्य भार बड़े पुत्र पुण्डरीक को सौंप दिया। कुछ दिनों बाद जब वे मुनि पुनः यहां पधारे तो पुण्डरीक ने गृहस्थ धर्म अंगीकार किया और कुण्डरीक ने दीक्षा धारण की। कुण्डरीक ने कुछ ही दिनों में ग्यारह अंगों का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। तपश्चर्या भी उनकी कठोर थी। पारणे के दिन जैसा रूखा सूखा आहार मिलता उसीसे वे अपना निर्वाह कर लेते थे। इस कारण उनके शरीर में दाह ज्वर की बीमारी पैदा हो गई। समय पाकर स्थविर मुनि कुण्डरीक को साथ ले उसी नगर में चले आये।

महाराज पुण्डरीक को ज्योंही मुनि के आगमन की खबर मिली, वे सभा में उपस्थित हुए और औषधोपचार के लिये मुनि को प्रार्थना कर अपनी नगरी में ले आये। स्थविर मुनि कुण्डरीक के पास दो साधुओं को छोड़ कर अन्यत्र विहार कर गये। कुण्डरीक मुनि भी कुछ दिनों में पूर्ण स्वस्थ हो गये। लेकिन स्वस्थ हो जाने पर भी उनकी इच्छा विहार करने की नहीं हुई। राज महलों के सुन्दर और स्वादिष्ट भोजनों की आसक्ति ने उन पर अधिकार जमा लिया। राजा पुण्डरीक ने जब यह हाल सुना तो वे मुनि के निकट आये और साधु जीवन की तरह २ से सराहना करते हुए अपने जीवन की निन्दा करने लगे। राजा की बातों को सुनकर कुण्डरीक मुनि मन ही मन लज्जित हुए और वहां से विहार कर स्थविर मुनि के पास पहुँच

को सर्वार्थसिद्ध विमान में पहुंचा दिया। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि जो विषय वासनाओं के दास हो जाते हैं, उनकी वैसी ही गति होती है। जैसी कि कुण्डरीक की हुई।

५—शालिभद्रजी

श्रेणिक-बिम्बसार मगध देश के राजा थे। उनकी नगरी राजगृही में गोभद्र नाम के एक बड़े सेठ रहते थे। शालिभद्रजी उन्हीं के प्रिय पुत्र थे। उनके पास काफी धन था। एक दिन की बात है कि कुछ रत्न कम्बलों के व्यापारी राजगृही में आये। वे सब से पहले श्रेणिक राजा के पास गये। राजा ने रानियों के पास कम्बलों को भेजे। रानियों ने उन्हें बहुत पसन्द किया। लेकिन एक कम्बल की कीमत ही सवा लाख मोहरें थी। केवल एक या दो कम्बल खरीदने से ही काम नहीं चलता था। अतः व्यापारियों को निराश हो लौट जाना पड़ा।

प्रातः काल जब वे राजगृही से जा रहे थे, तब शालिभद्र की कुछ दासियों ने जो पनघट से पानी भरकर आ रही थी उन्हें देखा। व्यापारी उदास थे, इसलिए इनकी उदासीनता का कारण पूछा। उनमें से एक व्यापारी ने चिढ़कर जवाब दिया—तुम्हें क्या काम है इससे? चलो तुम अपना काम करो। इस पर एक दासी ने उनसे कहा—आप नाराज क्यों हुए? व्यापारी को तो बड़ा सरल होना चाहिये। यह बात सुनकर व्यापारी का क्रोध शान्त हो गया। उसने कहा—बहिन, हम रत्न कम्बलों के व्यापारी हैं। श्रेणिक राजा का नाम सुनकर यहां आये थे। लेकिन राजा ने एक कम्बल तक नहीं खरीदा। अब निराश हो वापिस जाना पड़ रहा है। यही कारण हमारी उदासी का है।

बस यही बात है। चलो हमारे सेठजी से भी मिल लो। वे तुम्हें ऐसे ही नहा लौटने देंगे। वहा जो कोई भी आता है खाली हाथ नहीं जाता है। व्यापारी तो चाहते ही यही थे। वे तुरन्त उनके साथ हो गये।

सेठजी के घर में प्रवेश करते ही व्यापारियों की आँखें चकराने लगी। चारों तरफ दीवारों पर हीरे पन्ने जड़े हुए थे। महल क्या था मानों देवपुरी ही दुनिया में थी। दासियों ने शालिभद्र की माता भद्रा से व्यापारियों का परिचय कराया। भद्रा ने व्यापारियों से कहा-कम्बल कितने हैं? व्यापारियों ने उत्तर दिया-सोलह और एक २ की कीमत है सवालाख स्वर्ण मोहरें।

मैं कीमत नहा पूछती हूँ। मुझे तो देने ३२ कम्बलों की आवश्यकता थी। खैर! मुनिजी, इनको बीस लाख मोहरें देकर कम्बल ले लो।

भद्रा की उदारता और अटूट सम्पत्ति देख कर व्यापारी उनकी प्रशंसा करते हुए वहा से विदा हुए।

माता भद्रा ने एक २ कम्बल के दो २ टुकड़े कर अपनी ३२ ही बहुओं को बांट दिये। बहुओं ने एक दिन ओढ़कर दूसरे दिन अपना २ शरीर पोंछ कर महल के पीछे फेंक दिये। महे तरानी महल साफ करने आई। उसने उन कम्बलों को उठा लिया और अपने घर ले गई। यही महतरानी राजमहल में भी झाड़ू लगाती थी। एक दिन वह रत्न कम्बल ओढ़कर राजमहल में झाड़ू दे रही थी। इतने में रानियों ने उसे देख लिया। रानियों ने उसे पास बुलाकर पूछा-तुमको यह कम्बल

कैसे मिला ? भद्रारानी ने सारा हाल कह सुनाया। रानियों ने राजा से यह बात कही और शालिभद्र की सम्पत्ति की सराहना की। राजा ने शालिभद्र से मिलने की ठानी। उसने एक दिन उनको अपने महलों में बुलाया, लेकिन भद्रा ने कहलाया कि मेरा पुत्र किसी से मिलना जुलना नहीं है। अगर राजा चाहें तो मैं उपस्थित हो सकती हूँ। तब राजा स्वयं शालिभद्र से मिलने के लिये आये। भद्रा ने उनका बड़ा मान सम्मान किया। महल को देखकर राजा चकित हो गए।

राजा को रत्न जड़ित सिंहासन पर बैठाकर भद्रा ने अपने पुत्र को नीचे बुलाया। शालिभद्र ने जवाब में कहा—माँ, यदि श्रेणिक नामकी कोई चीज आई है तो आप उसे खरीद लें। मैं तो कुछ समझता नहीं हूँ।

माता ने कहा—नहीं बेटा श्रेणिक कोई खरीदने की चीज नहीं है। यह तो अपने राजा हैं। ज़रा नीचे आकर मिल लो।

शालिभद्र नीचे आये। राजा ने उनका सिर चूमा और अपनी गोद में बैठा लिया। कुछ देर बातचीत कर शालिभद्र पुनः ऊपर चले गये। लेकिन यह बात उनके हृदय में काँटे की तरह चुभ गई कि अब भी मेरा कोई राजा है ? अब तो मुझे ऐसा काम करना चाहिये कि जिससे मेरा कोई राजा ही नहीं रहे। इन्हीं विचारों ने शालिभद्र के हृदय में वैराग्य का अंकुर पैदा कर दिया। जब उन्होंने भगवान महावीर का उपदेश सुना तो उनकी यह भावना और अधिक प्रबल हो गई। फिर क्या था ! अपनी अटूट सम्पत्ति को ठोकर मारकर वे धन्नाजी

के साथ साधु बन गये और संयम पालन करते हुए मोक्ष मार्ग के पथिक बने।

६—महात्मा गजसुकुमाल

मुनि गज सुकुमाल श्रीकृष्ण महाराज के छोटे भाई थे। इनका रूप बड़ा ही सुन्दर था। श्रीकृष्ण महाराज ने अपने भाई के अनुरूप ही सुन्दर व बुद्धिमती सोमिल ब्राह्मण की कन्या के साथ उनका संबंध निश्चित कर लिया। एक दिन की बात है भगवान अरिष्टनेमि ग्राम २ विचरण करते हुए द्वारिका में पधारे। नगरी के सब लोग प्रभु के दर्शनार्थ गये। गजसुकुमाल भी साथ थे। भगवान ने अपने उपदेश में कहा कि संसार के सुख वैभव पानी के फेन की तरह क्षणिक हैं। इनसे बचने के लिये केवल वैराग्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें किसी तरह का भय नहीं। कुमार पर यह उपदेश असर कर गया। उनके हृदय में दीक्षा के भाव तीव्र रूप से हो आये। घर आकर उन्होंने अपने माता पिता से दीक्षा की अनुमति मांगी। कुमार की बातें सुनकर सबको बड़ा विस्मय हुआ। सब लोग उन्हें समझाने लगे। स्वयं कृष्ण महाराज ने आकर समझाया। लेकिन कुमार अपने निश्चय से तिल भर भी नहीं हटे। आखिर कार माता पिता के अनुरोध से एक दिन के लिये राज्य सिंहासन पर बैठ कर दूसरे दिन उन्होंने प्रभु के समीप दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होते ही उन्होंने प्रभु से आज्ञा ली और महाकाल नामक भयानक श्मशान में तप करने के लिये चले गये। वहां उन्होंने रात भर ध्यानारूढ हो खड़े रहने की प्रतिज्ञा की। चारों तरफ शांति थी। मुनि ध्यान में संलग्न हो खड़े थे। इतने में ही उनका

भावी श्वसुर सोमिल ब्राह्मण यज्ञ के लिये समिधा को लेकर उधर से आ निकला। वह कुमार को साधु वेष में देखकर आग बबुला हो गया। बोला-अरे निर्लज्ज ! अगर यही ढोंग करना था तो मेरी निर्दोष कन्या के साथ सम्बन्ध क्यों किया? इसका फल अभी मैं तुझे चखाता हूं। यह कह कर उसने पास ही के जलाशय से कुछ गिली मिट्टी ली और मुनि के सिर पर पाल बांधकर उसमें धधकते हुए अंगारे डाल दिए। मुनि को असह्य वेदना होने लगी। सिर जलने लगा। शरीर की नसें तनने लगी। लेकिन फिर भी मुनि अविचल खड़े रहे। उनके मनमें सोमिल के प्रति तनिक भी क्रोध पैदा नहीं हुआ। इस प्राणान्तक दुःख को भी मुनि ने हसते २ सहन किया। परिणाम-स्वरूप उनकी आत्मा अपने शरीर को छोड़कर मोक्षपुरी में विराजमान हो गई।

७—महाराजा उदाई

भगवान महावीर के समय में सिन्धु नदी के किनारे वीत-भयपाटण नामक एक सुन्दर नगर था। महाराजा उदाई वहां के राजा थे। वे बड़े ही धर्मात्मा थे। भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उनको वैराग्य पैदा हो गया। उन्होंने भगवान के पास दीक्षित होने की ठानली। परन्तु राज काज की चिन्ता उनको सताने लगी। वे सोचने लगे कि जिस काम को मैं बुरा समझ कर छोड़ रहा हूँ, उसी काम को मैं मेरे पुत्र को कैसे सौंपू ! ऐसा सोचकर उन्होंने अपना राज्यभार अपने भानजे को सौंप दिया और स्वयं वीर प्रभु के पास आ दीक्षित हो गये। पिता के इस शुभ कार्य को पुत्र ने बुरा समझा। वह उस नगरी को छोड़कर अन्यत्र चला गया।

महाराजा उदाई शुद्धभाव से संयम का पालन करते हुए एक दिन अपनी नगरी में भी आ पहुँचे। उनके भानजे को खबर मिली तो उन्होंने समझा कि मेरे मामाजी मुझ से राज्य छीन कर पुन: अपने पुत्र को देने के लिये आ रहे हैं। इसलिये उन्होंने अपने राज्य में घोषणा करा दी कि कोई भी मनुष्य उदाई मुनि को आहार पानी नहीं बहरावे और न ठहरने को ही स्थान दे। जो इस हुकम का पालन नहीं करेगा उसका प्राणान्त कर दिया जायगा।

मुनि नगरी में पधारे। वे अपने मास खमण के पारने के लिये घर २ घूमने लगे। लेकिन राजाज्ञा के अनुसार किसी ने उनको आहार-पानी नहीं बहराया। मुनि एक महीने से भूखे तो थे ही फिर ग्रीष्म ऋतु की धूप ने और विहार की थकावट ने मिलकर उनको दाह ज्वर पैदा कर दिया। मुनि की यह दशा देख कर एक कुम्हार से न रहा गया। उसने राजाज्ञा को ठुकरा दी और बड़े ही प्रेम से मुनि को अपने घर रोककर आहार पानी का दान किया। मुनि के दाह ज्वर की खबर जब राजा को हुई तब उसने एक वैद्य को बुलाया और कहा कि तुम मुनि को दवा के बहाने विष देकर उनका काम तमाम कर डालो। अन्यथा तुम्हें कोल्हू में पील दिया जावेगा। वैद्य मुनि के पास गया और विनय पूर्वक उनका हाल पूछने लगा। मुनि को भयानक रोग से पीड़ित जानकर वैद्य ने उन्हें तत्काल अपनी औषधि सेवन करने को कहा। मुनि निस्संकोच हो हसते २ दवा के बहाने उस हलाहल जहर का पान कर गये। विषकी गरमी से मुनि का दाह ज्वर और भी बढ़ गया। लेकिन फिर भी उनके मन में किसी के प्रति तनिक भी बुरे भाव पैदा नहीं हुए। इसी

भावशुद्धि के कारण मुनि को अवधिज्ञान पैदा होगया। इस ज्ञान से उन्होंने यह भली भाँति जान लिया कि राजाज्ञा से वैद्य ने मुझे जहर पिला दिया है। राजा के इस कार्य की प्रशंसा करते हुए वे कहने लगे कि मैंने तो अपने भानजे के साथ घोर अन्याय कर उसे राज्य भार सौंपा था लेकिन उसने मेरे साथ कैसा सद्व्यवहार किया ? उसने मुझे ऐसा विष पिलाया कि जिसे पीकर मैं अपनी जिन्दगी शीघ्र ही समाप्त कर सकूं। लेकिन मैंने तो उसे ऐसा विष पिलाया कि वह हंसते २ उसे पीता रहे और जन्म जन्म तक उसका फल भोगता रहे। मैंने उसके साथ बड़ा अन्याय किया है। इसका जितना भी दंड मुझे मिले उतना ही थोड़ा है। इस प्रकार उदाइ ने अपनी प्रत्यालोचना करते २ केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्होंने उपशम भावों से अपनी आत्म शुद्धि कर शिव सुख को प्राप्त कर लिया।

८—अरणक श्रावक

चम्पापुरी नगर में अरणक नामक एक वैभवशाली वैश्य रहते थे। वे बड़े ही धर्मात्मा थे। धर्म पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। एक दिन की बात है कि वे कुछ व्यापारियों के साथ जहाज में बैठ कर विदेश को जा रहे थे। कुछ दूर समुद्र में जाने पर एक देव ने अरणक को पीड़ा करनी चाही। उसने अपना माया जाल फैलाया। समुद्र में तूफान आने लगा। घनघोर वर्षा प्रारम्भ हो गई। आकाश में बिजलियाँ चमकने लगी। चारों तरफ देवता के कई रूप नजर आने लगे। उनमें से एक ने हाथ में तलवार ले अरणक से कहा—अरणक ! सावधान हो। अब भी समय है, तू यह कहदे कि जिनधर्म झूठा है। वरना अभी

मौत के घाट उतार दूंगा। तेरे कारण इन बेचारे दूसरों को भी बे मौत मरना पड़ेगा।

अरणक ने कहा—देव! तुम क्या स्वयं इन्द्र भी क्यों न आ जाय और चाहे जितना प्रलोभन क्यों न दें, तब भी मैं अपने धर्म को असत्य नहीं कह सकता।

देव तो कह ही रहा था पर उसके साथियों ने भी डर के मारे उससे बहुत कहा। डाट-डपट भी बताई। लेकिन अरणक पर कुछ असर नहीं पड़ा। देव ने कई उपाय किये। भीषण रूप धारण कर डराया, धमकाया भी। लेकिन फिर भी काम न बना। अरणक अपने धर्म पर दृढ़ थे। आखिरकार उसने जहाज को उठाया और आकाश में ले उड़ा। अरणक के साथी फूट फूट कर रोने लगे। किसी को अपने जीवन की आशा न रही। सब अरणक से अनुनय विनय कर रहे थे और यह समझा रहे थे कि किसी तरह यह कह दो कि मैं मेरा धर्म छोड़ता हूँ। लेकिन अरणक पर कोई रंग नहीं जमा सका। देव हार गया। उसने अपनी माया समेटी और अपना असली रूप धारण कर अरणक के सामने उपस्थित हुआ। उसने अपने अपराधों की क्षमा मांगी और दो कुण्डल की जोड़ी भेंट कर अपने स्थान को चला गया। भयंकर विपत्ति आने पर भी अरणक श्रावक ने अपना धर्म नहीं छोड़ा। इससे उनकी विजय हुई।

९—बाहुबली

भगवान ऋषभदेव के बड़े पुत्र का नाम था भरत और छोटे का नाम था बाहुबली। भरत जब छह खंड पृथ्वी का

राज्य छीनकर आ गये तब बाहुबली ने उन्हें अपने से युद्ध करने का ललकारा और फिर चक्रवर्ती बनने को कहा। व्यर्थ ही दोनों सेनाओं के संहार को रोक कर भरत और बाहुबली का ही परस्पर युद्ध तय किया गया। बाहुबली बलवान थे। अतः भरत उन्हें परास्त नहीं कर सके। यद्यपि युद्ध में बाहुबली विजयी हुए लेकिन तत्काल उन्हें इस राज्य वैभव से विरक्ति हो गई। वे अपने पिता ऋषभदेव के समीप गये और दीक्षा ले घोर तप में लीन हो गये।

कुछ दिनों बाद भरत भी संसार से विरक्त हो दीक्षित हुए और चन्द दिनों में ही अपने शुद्ध भावों से केवल ज्ञान को प्राप्त कर गये। भरत को केवल ज्ञान हुआ जानकर सब लोग उन्हें वन्दन करने आये। लेकिन बाहुबली नहीं आये। उनके मन में यह अहंकार समाया हुआ था कि मैं मेरे से छोटे भाइयों को वन्दना कैसे करूं ? बस, इसी विचार से वे अपने ध्यान में खड़े रहे और तपस्या करते रहे। लेकिन हृदय से मान को नहीं त्यागा। भगवान ने अपने ज्ञान से बाहुबली के भावों को जाना और उन्हें समझाने के लिये अपनी कन्या ब्राह्मी और सुन्दरी को उनके पास भेजा। दोनों सतियों ने बाहुबली के कठिन तप की सराहना करते हुए कहा—हे बन्धु! अभी आप अहंकार रूपी हाथी पर सवारी किये हुए हैं, इसलिये अब तक आपको सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी है। हमको भगवान ऋषभदेव ने आपके पास भेजी हैं। अतः अपने हृदय से मान को निकाल बाहिर करिये और अपने भाइयों को वन्दन करने पधारिये।

बाहुबली ने जब अपनी बहिनें ब्राह्मी और सुन्दरी के ये शब्द सुने तो वे मन ही मन बहुत पश्चात्ताप करने लगे।

पश्चात्ताप आ जाता है वहां फिर मान नहीं रह पाता। बाहु-बली ने जैसे ही अपना पांव भरतादि भाइयों को वन्दन करने के लिये आगे बढ़ाया, वैसे ही उनको भी केवल ज्ञान होगया।

१०—मरीचि

भगवान ऋषभदेव को केवल ज्ञान हो जाने पर वे ग्राम २ विहार कर उपदेश देने लगे। विचरते २ एक दिन वे अयोध्या नगरी में पधारे। भरत महाराज आदि उनकी वन्दना करने गये। वन्दन कर भगवान से यह प्रश्न पूछा कि भगवान्! क्या कोई यहां भी ऐसा प्राणी है जो आगे जाकर आप ही के समान तीर्थंकर बने और धर्म की प्रभावना करे? भगवान ने कहा-भरत, तुम्हारा पुत्र मरीचि ही एकमात्र ऐसा जीव है जो आगे जाकर चौबीसवाँ तीर्थंकर बनेगा। भगवान के वचन सुनकर भरत महाराज राजमहलों में आये और अपने पुत्र मरीचि को भावी तीर्थंकर समझ कर नमस्कार किया। इससे मरीचि के मन में अहंकार पैदा होगया। वह गली २ में फिर कर कहने लगा कि-मैं तीर्थंकर बनूंगा, मैं तीर्थंकर बनूंगा। इसी मान के वशीभूत हो मरीचि ने अपने बुरे कर्मों का बन्ध किया। जिसके फलस्वरूप उन्हें कुछ काल के लिये ब्राह्मणी के पेट में रहना पड़ा। जबकि सब तीर्थंकर क्षत्रियकुल में ही आते हैं।

११—भगवान मल्लिनाथ

महाविदेह क्षेत्र में वीतशोका नाम की एक नगरी थी। वहां महाबल राजा राज्य करता था। उसके अचल, धरण, पूरण

वसु, वैश्रवण और अभिचन्द्र नामके छह मित्र थे। एक दिन उसने अपने मित्रों से कहा-मित्रों मैं अब संसार से ऊब गया हूं, इसलिये मेरी इच्छा संयम लेने की है। आप लोगों की क्या इच्छा है? मित्रों ने कहा-महाराज! हम तो बचपन से ही आपके साथ रहे हैं। अतः संयम मार्ग में भी साथ ही रहेंगे। महाबल राजा ने राजकुमार अपने पुत्र को सौंप कर छहों मित्रों के साथ दीक्षा धारण करली। दीक्षा लेकर सातों ने यह प्रतिज्ञा की कि हम सब समान रूप से ही तप करेंगे। यह प्रतिज्ञा ले वे अनेक प्रकार की तपश्चर्या करने लगे। किन्तु महाबल ने विचार किया कि मैं सब से बड़ा हूं अतः मुझे अधिक तप करना चाहिये, नहीं तो भविष्य में सब समान ही रहेंगे। मेरा बड़प्पन नहीं रहेगा। ऐसा सोचकर महाबल मुनि पारणे के दिन आज मेरा सिर दुखता है-आज मेरा पेट दुखता है आदि बहाना बना कर पारणा नहीं करते और तपस्या आगे बढ़ा देते थे। इस प्रकार मुनि ने अपने घोर तप से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन तो कर लिया, लेकिन कपट से तप करने के कारण मुनि ने स्त्री वेद का बन्ध किया। जिसके फलस्वरूप महाबल मुनि १६ वे तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री रूप में पैदा हुए। अतः कपट-पूर्वक तप नहीं करना चाहिये।

१०—कपिल ब्राह्मण

कपिल ब्राह्मण कोशाम्बिका नगरी के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम काश्यप और माता का नाम यशा था। बचपन से ही इनके पिता के गुजर जाने से इनका पालन पोषण इनकी माता ने किया था। जब कपिल कुछ बड़े हुए तो माता की प्रेरणा

से श्रावस्ती में विद्याध्ययन के लिये गये। विद्याध्ययन करते हुए वहां एक दासी से प्रेम हो गया फलत वे उसके प्रेम पाश में फँस गए। एक दिन नगर की महिलायें वसन्तोत्सव मनाने जा रही थी। कपिल की प्रेमिका भी गई। लेकिन दरिद्रता के कारण उसके शरीर पर न तो कुछ अच्छे वस्त्र ही थे न कुछ गहने थे। दूसरी स्त्रियाँ बड़ी सजधज के साथ थी। उनको देखकर वह लज्जावश वापिस आगई, तथा अपने आने का कारण कपिल को कह सुनाया। कपिल भी विवश था। जहाँ खाने को भी पूरा न हो वहां गहनों की क्या बात? कपिल की प्रेमिका ने एक बात बताई। उसने कहा कि यहां का राजा प्रतिदिन दो माशा सोना का दान देता है। अतः आप उसको पाने का प्रयत्न करें।

प्रेम का भूखा क्या नहीं करता। कपिल ने यह भी किया। लेकिन एक दिन भी उसको दान नहीं मिला, क्योंकि उसके पहले ही कोई न कोई राजा के पास पहुँच कर दान प्राप्त कर लेता था। इसलिये वह एक दिन, रात को ही घर से निकल पड़ा। रात अधिक होने से कोतवाल ने चोर समझ कर उसे पकड़ लिया और सुबह राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा के पूछने पर कपिल ने सच २ बात कहदी। राजा बहुत खुश हुआ और उसकी सचाई पर प्रसन्न होकर वर मांगने को कहा। अब तो कपिल की खुशी का ठिकाना न रहा। वह सोचने लगा कि २ माशा सोने से क्या होगा? राजा प्रसन्न हो कर देता है तो सो मोहरें क्यों न माँग लू। लेकिन सो मोहरें भी कब तक चलेगी, वे भी कुछ दिनों में समाप्त हो जायगी। अतः राजा का राज्य ही मांग लू। लेकिन राज्य भी

"कोई दूसरा राज्य छीन ले तो ?" इस प्रकार अपने मन में विचार करते २ आवश्यकताएँ घटाईं और लोभ का छोड़ कर आत्म शुद्धि में लग गए। जो कपिल राज्य मांगने को उत्सुक हो रहा था वही अपनी आत्मा को धिक्कारता हुआ अल्पकाल में ही वीतरागी बन गया। परिणाम स्वरूप इसके [redacted] देखते उसको केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब कपिल केवली बन गये। उत्तराध्ययन सूत्र का आठवां अध्ययन इनका ही उपदेश है। कहा जाता है कि जंगल में चोरों को समझाने के लिये इन्होंने इसका उपदेश दिया था।

११—चित्त मुनि

प्राचीन समय में काशी को वाराणसी नगरी कहते थे। एक समय वहाँ शंख राजा राज्य करते थे। नमुचि उनका प्रधान था। राजा की रानी के साथ प्रधान का व्यवहार अच्छा नहीं था। एक दिन यह गुप्त बात राजा को मालूम हो गई। उसने नमुचि को प्राणदण्ड की सजा दी। नमुचि को फांसी देने का कार्य इन्द्रभूत चाण्डाल को सौंपा गया।

नमुचि कलाओं का जानकार था। उसने इन्द्रभूत को धन का लोभ दिया और कहा-अगर तुम मुझे नहीं मारोगे तो मैं तुम्हारे लड़कों को कलाओं में निपुण कर दूंगा। इन्द्रभूत ने उसे नहीं मारा और अपने घर में रख लिया। नमुचि उसके पुत्र चित्त और सम्भूति को पढ़ाने लगा। थोड़े ही दिनों में उसने इन्हें कलाओं में निपुण कर दिया। अब तो इन्द्रभूत उसका बड़ा अहसान मानने लगा।

एक दिन इन्द्रभूत की स्त्री के साथ भी नमुचि का असद् व्यवहार देख लिया गया, जिसे इन्द्रभूत सहन न कर सका और उसने उसको मारना चाहा। लेकिन इन्द्रभूत के पुत्रों से नमुचि को इस बात का पता चल गया। तब वह मरने के भय से वहां से भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहां के राजा सनत्कुमार चक्रवर्ती का मंत्री बन बैठा। इधर चित्र और सम्भूति जो संगीत विद्या में पूरे निपुण हो गये थे, गाते गाते गांव २ विचरने लगे। इनके संगीत में ऐसा जादू था कि जहां भी ये गाते हुए निकलते, जनता अपना कामकाज छोड़ कर बाहिर निकल पड़ती। स्त्रियां और विशेष कर कुलीन घरों की स्त्रियें भी घर से निकल कर तदनुरूप नाच करने लग जाती थी। कुछ लोगों को यह बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने राजा से जाकर उनकी शिकायत की। राजा ने बिना कुछ सुने ही उन बालकों को नगर से निर्वासित कर दिया। इस अपमान से उन्हें गहरी चोट पहुँची। वे आत्म हत्या करने के लिए एक पहाड़ पर चढ़ गये, जहां उन्हें कोई देख न सके। लेकिन अभी उन्हें दुनिया में रहना बाकी था। उस पहाड़ पर एक संयमधारी मुनि से उनकी भेंट हो गई। मुनि के सदुपदेश से चित्र और सम्भूति ने दीक्षा अंगीकार करली। अब वे कठिन तप करते हुए इधर उधर विचरने लगे।

एक दिन वे घूमते २ हस्तिनापुर में आये। उस दिन उन दोनों के मास खमण का पारणा था। नमुचि को उनके आने की खबर मिली। उसे भय हुआ कि कहीं ये मेरी पोल नहीं खोल दें। इसलिये उसने अपने नौकरों से कहा कि तुम जाओ और उन मुनि को मारपीट कर बाहिर निकाल दो। नमुचि की

आज्ञा से नौकरों ने उन्हें बहुत मारा पीटा। महामुनि चित्त के मन में तो तनिक भी रोष पैदा नहीं हुआ, लेकिन सम्भूति यह सहन नहीं कर सके। उन्होंने नगर पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। जिससे चारों तरफ धुआं ही धुआं फैल गया। चित्त ने सम्भूति को बहुत समझाया, तब कहीं वे शान्त हुए। आखिर में दोनों ने संथारा ग्रहण कर लिया। जब यह समाचार हस्तिनापुर के सम्राट को मालूम हुए तो वे सकुटुम्ब मुनियों के पास आये और अपने मंत्री के अपराध की क्षमायाचना करने लगे। रानी ने अपना सिर मुनियों के चरणों में झुकाया। उसके बालों की मधुर सुगंध ने चित्त को उलझन में फंसा लिया। वे इस तरह के सुख वैभव पर मुग्ध हो गये। उन्होंने निदान किया कि अगर मेरी तपस्या का कुछ फल हो तो मैं भी ऐसा ही सम्राट बनकर सुख वैभव को प्राप्त करूं। चित्त ने अपने भाई को बहुत समझाया और कहा कि इस तरह तुम अपनी अमूल्य तपस्या को कौड़ियों के मूल्य में मत बेचो, लेकिन सम्भूति पर कुछ असर नहीं हुआ। फलतः सम्भूत मुनि का जीव अपने निदान के अनुसार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना और चित्त एक सेठ के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। समय पाकर सेठ के पुत्र ने दीक्षा ग्रहण की और मुनि मार्ग का अनुसरण करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया। उधर सम्भूति का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना और विषयों में लीन रहने के कारण नरक का मेहमान बना।

१२—सेठ सुदर्शन

सेठ सुदर्शन चम्पानगरी के निवासी थे। ... की सम्पत्ति थी। उनकी पतिव्रता स्त्री का नाम

जिनसे उनके पाँच पुत्र पैदा हुए थे। पिता की तरह पुत्र भी बड़े ही रूपवान् और कान्तिमान थे। सेठजी का राज-पुरोहित के साथ बड़ा प्रेम था। एक दिन पुरोहितजी कहीं बाहिर गये हुए थे। पुरोहितानी सेठजी के रूप पर मुग्ध बनी हुई थी। उसने अपनी दुर्भावना पूरी करने के लिये सुदर्शन को कहला भेजा कि पुरोहितजी बहुत बीमार हैं, वे आपको शीघ्र बुला रहे हैं। यह सुनते ही सेठजी दौड़ आये और पुरोहितजी को देखने लगे। लेकिन घर में तो मामला ही कुछ और था। उन्होंने पुरोहितानी से पूछा-कहाँ है पुरोहितजी? अब उनकी तबियत कैसी है? पुरोहितानी ने सेठजी का हाथ पकड़ते हुए अपने मन की बात कही। सेठजी दृढ़ धर्मी थे। परदार गमन के वे त्यागी थे। उन्होंने पुरोहितानी को बहुत समझाया, परन्तु चिकने घड़े पर पानी की बूंदों की तरह उस पर कोई असर नहीं हुआ। आखिरकार जब सेठजी ने कोई चारा नहीं देखा तो उन्होंने पुरोहितानीजी से कहा-मेरे से तुम क्या चाहती हो! मैं तो नपुंसक हूं। यह सुनकर पुरोहितानी के हाथ ढीले पड़ गये। उसने सेठजी को छोड़ दिया। सेठजी खुशी से घर आये और अपने भाग्य की सराहना करने लगे।

एक दिन सेठानी अपने पुत्रों को लेकर किसी उत्सव में जा रही थी। राजमहलों से रानी अभया ने उन्हें जाते हुए देखा। पुत्रों की सुन्दरता को देखकर वह मुग्ध हो गई। जब ये बालक इतने सुन्दर हैं तो इनके पिता कैसे रूपवान होंगे? यह विचार रानी के मन में समा गया। उसने पास में बैठी हुई पुरोहितानी से पूछा-ये पुत्र किसके हैं? पुरोहितानी ने मुंह बनाकर कहा-आप जिसे सती कहकर तारीफ करती हैं ये उसी मनोरमा के

पुत्र है। रानी ने कहा-तो क्या तुझे उसके सतीत्व में सन्देह है? पुरोहितानी ने कहा-आपको क्या मालूम रानीजी? उसका पति सुदर्शन तो नपुंसक है। यह कैसे कहती है तू? रानी ने पूछा। तब उसने अपनी सारी घटना रानी को कह सुनाई। उसकी बात को सुनकर रानी हंसी और बोली—तुझ में अ दमी को फंसाने की कला नहीं है। सुदर्शन बड़ी होशियारी से तेरे पंजे से निकल भागा। देखना मैं अब उसे अपने पंजे में फँसा कर तुझे बता ऊँगी। पुरोहितानी ने उसे उत्तेजना देते हुए कहा-देखती हूं आप कैसे उसे अपने पंजे में फंसाती हैं? रानी सुदर्शन को फँसाने का अवसर देखने लगी।

एक दिन नगर के सभी स्त्री-पुरुष नगर के बाहर कौमुदी उत्सव मना रहे थे। सुदर्शन की पत्नी मनोरमा भी अपने पुत्रों सहित वहां उत्सव मनाने गई लेकिन सेठजी अपनी पौषधशाला में पोषा ले ध्यानमग्न बैठे हुए थे। राजा ने रानी से बाहिर चलने को कहा। लेकिन जब रानी ने यह सुना कि सुदर्शन बाहिर नहीं गया है तो उसने भी पेट दुखने का बहाना कर बाहिर चलने से इन्कार कर दिया। राजा अपने दरबारियों सहित नगर के बाहिर आ गया। महलों में रानी के सिवाय और कोई न रहा। रानी की दासियां यथासमय सुदर्शन को उठाकर अपने महलों में ले आईं। सुदर्शन व्रत में था। वह, सुनने या शरीर से जोर करने में उसका व्रत भंग होता था। अतः वह अपने व्रत में लीन रहा।

रानी तरह २ के वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हो सुदर्शन के सामने उपस्थित हुई और उसे अपनी तरफ आकर्षित करने लगी। लेकिन सुदर्शन अपने ध्यान में लीन रहे। रानी का कोई

वश उन पर न चला। लाचार हो उसने पहरेदारों को चिल्लाते हुए कहा-पकड़ो-पकड़ो, यह पापी सुदर्शन मेरा सतीत्व भग करने के लिये महलों में घुस आया है। यह सुनते ही पहरेदारों ने सुदर्शन को कैद कर राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा के क्रोध की सीमा न रही। उसने तुरन्त सुदर्शन को शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा देदी। नगर में हलचल मच गया। सेठजी के शीलव्रत की चारों तरफ महिमा फैली हुई थी। सभी ने सेठजी को बचाने के लिये राजा से प्रार्थना की। लेकिन राजा ने किसी की न सुनी। सेठजी को शूली पर लाया गया। शील का अखंड तेज उनके माथे पर चमक रहा था। उन्हें इष मात्र भी दुख नहीं था। नवकार-मन्त्र का स्मरण कर वे मन ही मन सबसे क्षमा याचना कर रहे थे। लेकिन क्या कभी सत्य को भी घेरे में रखा जा सकता है? सहसा एक दैवी घटना घटी। शील के प्रभाव से सुदर्शन की शूली सिंहासन बन गई। देवताओं ने पुष्पवृष्टि कर जय जयकार किया। लोगों की खुशी का पारावार न रहा। राजा ने अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा मांगी। इस प्रकार सुदर्शन के सत्यशील की विजय हुई। यह है शील का प्रभाव।

१३—अर्जुनमाली

महाराजा श्रेणिक की राजगृही नगरी में अर्जुन नामक एक माली रहता था। वह शरीर से सुडौल सुन्दर तगा स्वस्थ था। उसका एक बगीचा था जहाँ मुद्गर-पाणि यक्ष की एक प्राचीन मूर्ति थी, अर्जुनमाली बचपन से ही उसकी पूजा किया करता था। उसी नगरी में ६ गुंडे रहा करते थे। उनकी धाक सारी नगरी में फैली हुई थी।

एक दिन अर्जुनमाली अपनी स्त्री बन्धुमती के साथ अपने बगीचे में आया और यक्ष की पूजा करने लगा। ज्योंही अर्जुनमाली यक्ष की पूजा करने में संलग्न हुआ त्योंही उन बदमाशों ने उसको पकड़ कर बांध दिया। बन्धुमती अकेली थी, बदमाशों ने उसके साथ मनमाना अत्याचार किया। अर्जुनमाली की आंखों से खून बरस रहा था। उसकी अपनी आंखों के सम्मुख ऐसा अत्याचार देखकर यक्ष की मूर्ति पर तनिक भी श्रद्धा नहीं रही। वह मन ही मन यक्ष को बुरा भला कहकर क्षुब्ध करने लगा। इससे मूर्ति के अधिष्ठायक यक्ष का आसन चला। उसने अर्जुनमाली के शरीर में प्रवेश किया। उसके प्रवेश होते ही अर्जुन के सब बंधन टूट गये। उसने एक साथ ही लोह मुद्गर से अपनी स्त्री और उन छः ही बदमाशों का काम तमाम कर दिया। इतने पर भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वह प्रतिदिन नगर के ७ व्यक्तियों की घात करने लगा। लोग डरके मारे हैरान थे। किसी की हिम्मत नगरी से बाहिर आने की नहीं होती थी।

दैव योग से उन्हीं दिनों भगवान महावीर भी विचरते २ राजगृही नगरी के बाहिर पधारे। जब सेठ सुदर्शन को यह खबर हुई तो वह प्रभु दर्शन के लिये लालायित हुआ। सुदर्शन के माता पिता ने उसको बहुत रोका और अर्जुनमाली का भय दिखाकर मना किया, लेकिन सुदर्शन की भक्ति भावना प्रबल थी। वे किसी तरह माता पिता की अनुमति ले दर्शन को चल दिये। मार्ग में उन्हें देखते ही अर्जुनमाली मुद्गर ले दौड़ा आया। सुदर्शन उस समय प्रभु को नमस्कार कर सागारी अनशन के साथ ध्यानस्थ खड़े हो गये।

अपना मुद्गर उन पर उठाया, सुदर्शन के तप और तेज के सम्मुख वह ऊपर ही रह गया। नीचे नहीं आसका। यक्ष अपनी शक्ति पर लज्जित हो अर्जुन के शरीर से भाग निकला। अर्जुन निर्बल हो धरती पर गिर पड़ा। सुदर्शन ने जब समझा कि अपना उपसर्ग अब शान्त हो गया है, तब उसने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। अर्जुन को होश आते ही वह भी सुदर्शन के साथ प्रभु महावीर के दर्शन को चल पड़ा।

उसने भगवान का उपदेश सुन कर दीक्षा धारण करली। कल जो अर्जुन मनुष्यों की घात करता फिरता था वही अर्जुन आज सत्संगति से पंच महाव्रतधारी मुनि बन गया। मुनि बन कर अर्जुन ने तपश्चर्या करनी प्रारम्भ की। भिक्षा जाते समय लोग कई प्रकार से उसका अपमान करते और ताड़ना तर्जना भी करते थे, लेकिन मुनि ने सबको दृढ़ता से सहन कर ६ महीने में ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१४—परदेशी राजा

लगभग सत्ताइस सौ वर्ष पहले सिताम्बिका (पेशावर) में परदेशी राजा राज्य करता था। वह बड़ा नास्तिक था। दया धर्म क्या होता है इसे वह जानता ही न था। आत्मा परमात्मा पुण्य, पाप, स्वर्ग—नरक आदि को वह कोरी कल्पना ही समझता था। चित्त उसका प्रधान-मंत्री था। एक बार राजा परदेशी ने अपने परम मित्र अजितशत्रु को कुछ बहुमूल्य चीजों की भेंट करने के लिये अपना प्रधान को भेजा। अजितशत्रु की नगरी में स्योगवश केशीश्रमण नामके मुनि विराजमान थे। उनके उपदेशों को सुनने के लिये हजारों की भीड़ लगी रहती थी। चित्त को भी अनायास ही मुनि का उपदेश सुनने को मिल गया। चित्त के हृदय पर मुनि का अमिट प्रभाव पड़ा। उसने

कट्टर आस्तिक बन गृहस्थ धर्म धारण किया, और मुनि से सिताम्बिका पधारने की विनती की। मुनि भी जगह २ घूमते हुए एक दिन सिताम्बिका पधार गये। मन्त्री को इस बात की सूचना मिली। सारी जनता मुनि दर्शनार्थ जा रही है। मन्त्री भी घूमने के बहाने राजा को लेकर बाहिर निकला। बगीचे में लोगों की भीड़ देखकर राजा ने मन्त्री से पूछा आज यहां इतनी भीड़ क्यों लगी हुई है? मन्त्री ने कहा—आज यहाँ निर्ग्रंथ मुनि पधारे हुए हैं। वे स्वर्ग नरक आदि को मानने वाले हैं। उन्हीं के दर्शनार्थ आज यहां भीड़ लगी हुई है। राजा ने कहा—तब तो हम भी चलें और मुनि से पूछें कि स्वर्ग-नरक कहाँ है? जरा बतावें तो सही। मन्त्री तो चाहता ही यही था। वह राजा को मुनि के पास ले गया। राजा ने मुनि से पूछा—महाराज! क्या स्वर्ग और नरक है? अगर है तो मेरे दादा मुझ से भी अधिक पापी थे। आपकी मान्यतानुसार वे अवश्य नरक में गये होंगे, और महान् दुःखों का सामना कर रहे होंगे। वे क्यों नहीं आकर मुझे अपना हाल सुनाते? जिससे मैं फिर हिंसा न करूँ।

मुनि ने कहा—राजन्! अगर तुम्हारी रानी के साथ कोई दुर्व्यवहार करे तो तुम क्या करोगे?

राजा—मैं उसे तत्काल जान से मार दूंगा।

मुनि—अगर वह कुछ समय का अवकाश चाहे तो क्या उसे जाने दोगे।

राजा—नहीं, कदापि नहीं। मैं उसे तत्क्षण मार डालूंगा।

मुनि—जब तुम अपने अपराधी को एक मिनट भी छोड़ना नहीं चाहोगे तो तुम्हारे दादा को, जिन्होंने अनेकों पाप किये हैं, नरक से उन्हें कौन यहां आने देगा?

राजा ने फिर दूसरा प्रश्न पूछा—महाराज! मेरी दादी

बड़ी धर्मात्मा थी। वह अवश्य स्वर्ग में गई होगी। वह क्यों नहीं आकर मुझे पाप कर्म से रोकती ?

मुनि ने कहा—राजन् ! कोई मनुष्य नहा धोकर सन्ध्या वन्दन आदि शुभ कृत्यों के लिये जा रहा हो और उस समय यदि एक भंगी पाखाने में उसे बातचीत करने को बुलाय तो क्या वह वहाँ जाना पसन्द करेगा ?

राजा—नहीं।

मुनि—बस, यही हाल अपनी दादी का भी समझो।

राजा ने फिर मुनि से तीसरा प्रश्न किया—महाराज ! क्या आप आत्मा को दिखा सकते हैं ?

मुनि ने कहा—राजन् ! ये सामने पेड़ के पत्ते किससे हिल रहे हैं ?

राजा—हवा से।

मुनि—क्या तुम हवा को देख सकते हो ?

राजा—नहीं।

मुनि—जब तुम ऐसी स्थूल चीज को भी अपनी आँखों से नहीं देख सकते, तब आत्मा जैसी अरूपी चीज को कैसे देख सकते हो ?

राजा—अच्छा महाराज ! ये हाथी का आत्मा चींटी के शरीर में कैसे चला जाता है ?

मुनि—राजन् ! जिस तरह एक कमरे में एक दीपक के जलने से सारा कमरा प्रकाशमान हो जाता है और उसी दीपक पर यदि एक बर्तन ढाक दिया जाय तो उसका वह प्रकाश बर्तन में ही समा जाता है। उसी प्रकार हाथी की आत्मा के सम्बंध में भी जान लेना चाहिये।

इस प्रकार अनेक प्रश्नोत्तर कर राजा ने अन्त में अपनी हार कबूल की और आस्तिक बनकर जैनधर्म को स्वीकार किया।